गंगा-ग्रंथमाला–संख्या ५

मुन्नी की डायरी

लेखक
आदित्यप्रसन्न राय

१९३२

प्रकाशक

बलदेव-मित्र-मंडल

राजादरवाज़ा

बनारस सिटी

प्रथम संस्करण

मूल्य १)

मुद्रक

विजयबहादुरसिंह, बी. ए.

महाशक्ति-प्रेस

बुलानाला, काशी

प्रवचन

इस उपन्यास के लेखक 'श्रीयुत आदित्यप्रसन्न राय' मेरे पति के प्रिय मित्र और साहित्यिक सखा है। इस नाते वे मेरे भी स्वजन और बंधु हैं। देश और समाज के लिये उनके दिल में दर्द है। वे सेवा करना चाहते हैं—दिखाने के लिए नहीं, बल्कि सच्ची सेवा के लिए, अपने प्रपीड़ित प्राण को शांति देने के लिए। वे राष्ट्रभाषा के आजन्म भक्त हैं—अपनी इस छोटी उम्र में ही आपने पत्र-पुष्प से उसकी बहुत-कुछ सेवा की है।

दो-तीन मास हुए, "मुन्नी की डायरी" की पांडुलिपि उन्होंने मुझे दिखलाई। मैं आदि से अंत तक यह पुस्तक

पढ़ गई। इसे सफलतापूर्वक समाप्त करने पर मैंने उन्हें बधाई दी। उनका आदेश हुआ कि इस पुस्तक के संबंध में मैं अपनी सम्मति लिख दूँ। यद्यपि मैं अपनेको इस योग्य नहीं समझती; तथापि उनके आदेश का पालन करना मेरा आवश्यक कर्त्तव्य है। यही सोचकर मैं दो-चार शब्द लिख रही हूँ।

धर्म की जिस नींव पर वर्त्तमान हिन्दू-समाज का सौध-निर्माण हुआ है, वह इतना काल-जर्जरित और पोला हो गया है कि अगली पीढ़ियों के लिए उसका स्थिर रहना असंभव-सा प्रतीत होता है। यदि हम ससार में अपना अस्तित्व क़ायम रखना चाहते हैं, तो हमें अपने समाज का प्रासाद—अपनी मानसिक संस्कृति का ध्यान रखते हुए—प्राचीन नींव को एकदम साफ़ करके बनाना पड़ेगा। इसके लिए हमें अपनी कमज़ोरियों का ज्ञान होना अत्यंत आवश्यक है।

राष्ट्र के विधाताओं ने समय-समय पर बराबर इन कमज़ोरियों का निर्देश किया है। किन्तु लेखक ने अपनी प्रस्तुत पुस्तक में हथौड़े की चोट से समाज के निर्बल स्थानों पर आघात करके तंद्राभिभूत जनता को सजग

करने का प्रयत्न किया है। साथ ही, प्रक्षिप्त रूप से उसके उपचार का भी—अपने ज्ञान और अनुभव के अनुसार—उल्लेख किया है। उनके ये विचार कहाँ तक उचित अथवा अनुचित हैं, इसके निर्णय का मुझे अधिकार नहीं; किन्तु इतना मैं अवश्य कह सकती हूँ कि उनमें भावुक लेखक के हृदय की सचाई पूर्ण मात्रा में है।

हिन्दी में 'डायरी' (दिनचर्या) के रूप में अभी तक कोई उपन्यास नहीं लिखा गया है। यह पहली ही पुस्तक है, जो एक समाज-प्रपीड़ित व्यक्ति की डायरी के रूप में लिखी गई है। विषय की कठिनाई के कारण यद्यपि इस प्रकार की अनेक पुस्तकें अश्लील हो गई हैं; किन्तु मुझे हर्ष है कि श्रीराय महाशय की लेखनी यथेष्ट गंभीर भाव से परिचालित हुई है, और अपनी पुस्तक को श्लील बनाने में वे आवश्यकता से अधिक सफल हुए हैं।

लेखक से मेरा अनुरोध है कि वे इस पुस्तक का अन्य-प्रांतीय भाषाओं में भी उल्था कराने की चेष्टा करें।

प्रयाग
२५-७-३२

उषादेवी

जले दिल की दो बातें

"The gravest of all secrets is the open secret"—**Carlyle.**

"खुला रहस्य ही सब गंभीर रहस्यों का लकड़दादा है।"—**कार्लाइल**

यौवन के सरस-सुहावने दिनों में बिलकुल बेकार बैठे रहने से मस्तिष्क कुभावनाओं का अजायब-घर-सा हो जाता है। मैं एक दिन निराले में बैठकर 'मुन्नीलाल' से गप-शप कर रहा था। उनसे मैंने प्रसंगवश 'अपनी राम-कहानी' सुनाने का अनुरोध किया। उन्होंने जो कुछ सुनाया, उसीको मैं हिन्दी-संसार की सेवा में उपस्थित कर रहा हूँ।

बड़े दुःख की बात है कि थोड़े ही दिन हुए, मुन्नीलाल का देहान्त हो गया। मृत्यु के पूर्व उन्होंने मुझे अपनी डायरी से "स्वतंत्र मनुष्य" शीर्षक एक छोटा-सा लेख पढ़ सुनाया था। फिर उनसे मेरा सदा के लिये वियोग हो गया!

वर्त्तमान धनी-समाज में मनुष्य पैसे कमाने के पीछे अपनी समस्त सद्भावनाओं की तिलांजलि दे बैठता है, और व्यक्तिगत स्वार्थ के मोह-जाल में फँसकर कुत्तों की तरह आपस में नोच-खसोट करता रहता है।

'मुन्नी की डायरी' में अधिकतर समाज और मनुष्य का नग्न-चरित्र-चित्रण किया गया है। कहीं-कहीं तो सदाचारी व्यक्तियों को और हवा में क़िले बनानेवाले आदर्शवादियों को नाक-भौं सिकोड़ना पड़ेगा। पर यदि वे स्थिर चित्त से विचार करेंगे, तो उन्हें मालूम हो जायगा कि व्यापक घृणित दुराचार और अनाचार का सृष्टिकर्त्ता पूँजीपति-समाज ही है।

युग-युगान्तर से एक क्षमताशालिनी श्रेणी दूसरी निरन्न एवं असहाय श्रेणी को ठुकराती चली आई है। इसीके परिणाम-स्वरूप पुरुष पुरुष पर, नर नारी पर,

सबल निर्बल पर अमानुषिक अत्याचार ढाता चला आया है। आज भी राष्ट्र, सम्प्रदाय और धर्म के नाम पर डकैती का राज्य फैला हुआ है। इसीसे रूस के प्रसिद्ध अर्थशास्त्री "कार्ल मार्क्स" डंके की चोट कह गये हैं कि "श्रम-जीवियों की विजय के साथ ही साथ पूर्व-इतिहास समाप्त हो जाता है और वास्तविक इतिहास आरम्भ होता है।"

वस्तुत: अभी मनुष्य-समाज के इतिहास को यदि अत्याचारों का इतिहास कहा जाय, तो अच्छा होगा।

इसमें कुछ गण्यमान्य देश-नायकों और देश-नायिकाओं की करतूतों का भी वर्णन किया गया है। यथास्थान भारत के भिन्न-भाषा-भाषियों तथा अन्यान्य-प्रान्तवासियों पर भी खरी-खोटी टीका-टिप्पणी हुई है। इस धृष्टता के लिए विचारशील सज्जन क्षमा करेंगे, ऐसी आशा है।

❀ ❀ ❀ ❀

असंभव भी संभव हो सकता है। यह बात बहुतेरे निराशावादी मनुष्यों के मुँह से आज सुनने में आती है कि अप्राकृतिक व्यभिचार भी सनातन है—चाहे कितने भी सुधार क्यों न हों, मनुष्य-प्रवृत्ति इसे छोड़ नहीं सकती।

साधारणतया मनुष्य अपने अनुभव से जिस निष्कर्ष

पर पहुँचता है, उसीको वह बिलकुल ठीक समझने लगता है।

संसार में कितनी ही असंभव बातें संभव हो गई हैं, जिनकी कल्पना करना भी एक सामान्य व्यक्ति के लिये बहुत ही कठिन है। थोड़े दिन की बात है, रूस में क्रांति हुई—निर्धनों का राज्य स्थापित हुआ। सारे सभ्य संसार ने उसे अँगुली दिखाया—भय दिखाया—उसका घोर विरोध किया। किन्तु सच पूछिये तो हमारे सत्ययुग में भी ऐसा साम्य नहीं था—बौद्ध-युग में भी नहीं था—ईसा-मसीह के समय में भी नहीं था। आज वही रूस में है।

मनुष्य-समाज में साम्यवाद का प्रचार बुद्ध और ईसामसीह दोनों ने किया। उसे कार्यरूप में परिणत करने के लिये स्वयं उन्होंने बड़ी चेष्टा भी की। उनके हृदय में ग़रीबों के प्रति सहानुभूति थी—आन्तरिक सहानुभूति। फिर भी उनका काल्पनिक साम्यवाद संसार में प्रतिष्ठित न हो पाया। तथापि उन्होंने अपने छोटे-से कार्यक्षेत्र में, अपनी जीवितावस्था में ही, लोगों को सच्चरित्र बनाया—जीवन के उच्चतम लक्ष्य की ओर लोगों की दृष्टि को आकृष्ट किया।

किन्तु उनकी मृत्यु के थोड़े ही दिनों बाद उनके धर्म

का मूल तत्त्व मनुष्य की पशु-प्रवृत्ति के आगे दब-सा गया। हाँ, धर्म का ढोंग ख़ूब फैला। वे दोनों महात्मा धनी और ग़रीब का अप्राकृतिक वैषम्य दूर करना चाहते थे। पर जब उनका कार्यक्रम असफल हुआ, तब लोगों ने एक-स्वर से कहा—धनी और निर्धन की सृष्टि स्वयं भगवान् ने की है—यह ईश्वरीय विधान है।

फलतः लोग भाग्य के गुलाम हो गये—अत्याचार और अनाचार को भाग्य के नाम पर सहते चले गये। किन्तु अन्ततोगत्वा रूस ने वैज्ञानिक साम्यवाद को प्रतिष्ठित करके संसार को दिखा दिया कि असंभव किस प्रकार संभव हो सकता है।

रूस ने हज़ारों वर्ष की संस्कृति और सभ्यता के पुराने आवरण को हटाने के लिये शिक्षा का देशव्यापी प्रचार किया। कारण, सच्ची शिक्षा से असंभव भी संभव हो सकता है—सच्चे ज्ञान-दान से सभी कुछ सम्भव हो सकता है।

इसीलिये, १९१७ की क्रांति के बाद, लेनिन ने कहा था कि "इस समय रूस को बिलकुल ही साम्यवादी देश बनाने के लिये हमको और कुछ न करना चाहिये, केवल सांस्कृतिक क्रांति मचाने की आवश्यकता है। परंतु इस

क्रांति के लिये हमारे सामने बड़ी-बड़ी सांस्कृतिक और भौतिक कठिनाइयाँ हैं ।"

लेनिन को जो कुछ करना था, उसने कर दिखाया। उसके सामने जो विघ्न-बाधाएँ आईं, उन्हें वह वीरतापूर्वक झेलता गया। अन्त में उसने सारे रूस में सांस्कृतिक क्रांति मचाकर ही कल की।

गंभीर भाव से जनन-मनोविज्ञान का अध्ययन करने पर यह बात ठीक जँचती है कि बालकों में अप्राकृतिक व्य-भिचार का श्रीगणेश तभी होता है, जब उन्हें प्रतिकूल वायुमंडल में रहकर मैथुन-संबन्धी बातों के रहस्य का पता लगाने और मैथुन करने की उत्कट इच्छा होती है। जब उन्हें उसके रहस्य को अच्छी तरह समझने का मौक़ा नहीं मिलता, तो वे अधीर होकर अपने शरीर को नष्ट कर डालते हैं। सोचते हैं, इसीमें दुनिया का आनन्द है। हमारे वर्त्तमान समाज में बच्चों के प्रति बड़ी उदासीनता दिखाई जाती है—उनके प्रति कर्त्तव्य-पालन नहीं किया जाता।

यह तो सर्वसम्मत है कि अप्राकृतिक व्यभिचार जितना पुरुषों में फैला हुआ है, उतना स्त्रियों में नहीं।

गंभीरतापूर्वक विचार किया जाय, तो इसका प्रधान कारण स्पष्ट मालूम हो जायगा। पुरुष, समाज के शासक हैं। स्त्रियाँ, शासिता हैं। जिसे संसार में निरंकुश शासन करने का अधिकार है, वह अपनी स्वतंत्र विचारशक्ति को अत्याचार करने ही में नष्ट करता है—यह प्राकृतिक नियम है।

जब सारी दुनिया में, बच्चों को सांस्कृतिक क्रांति की नींव पर शिक्षा दी जायगी, तब नर-नारी का युग-युगान्तर-व्यापी असाम्य मिट जायगा। तब असंभव भी सम्भव हो जायगा।

❀ ❀ ❀ ❀

वर्त्तमान समाज में घुन लग चुका है। उसके नाश में अब अधिक विलम्ब नहीं है। क्रान्ति की गुप्त धारा अपना काम कर रही है।

मनुष्यत्व के विकास के पथ में रूस ने अभी जो कुछ किया है, वह केवल उद्बोधनमात्र है। भारत अपनी शिक्षा और सभ्यता का बड़ा दम भरता है। उसे अभी बहुत-कुछ करना है। उसीपर संसार का निस्तार निर्भर है।

अध्ययनशील व्यक्ति इस बात को स्वीकार करेंगे कि बीसवीं सदी में जितना दुराचार बढ़ गया है, उतना मनुष्य-

समाज के इतिहास में कभी देखा-सुना नहीं गया। उसकी मात्रा हमारे भारत में भी, प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से, बढ़ती हुई देख पड़ती है। इससे हमारे अधिकांश देशवासियों का स्वास्थ्य और सौन्दर्य नष्ट हो रहा है। वैसे तो इस ह्रास के मूल कारण का सम्यक् रूप से विस्तृत वर्णन करने पर पुस्तक का कलेवर बहुत बढ़ जायगा; पर मैं यहाँ केवल अपने समाज के अशांतिमय दाम्पत्य जीवन का थोड़ा-सा दिग्दर्शन कराने की चेष्टा करूँगा।

बात यह है कि हम स्त्रियों को प्राप्त नहीं करते, बल्कि उन्हें भार-स्वरूप, अनिच्छा वा स्वेच्छा से, ग्रहण करते हैं। योरपीय समाज में, प्रेम का अंकुर जमने के पूर्व, प्रेमी और प्रेमिका में स्वतंत्रतापूर्वक खेल होता है। उनके यहाँ जिस प्रेम की सृष्टि होती है काम-वासना में—जो पुष्ट होता है खेल में, उसीका आलोक छिटक पड़ता है उनकी अलौकिक कार्य-क्षमता में। एक प्रेमी अपनी प्रेमिका के हृदय-रत्न को अधिकृत करने के लिये दूर देशों में, व्योम-मंडल में, यात्रा करता है—वायुयान में बैठकर। उनके समाज में सभी सिर ऊँचा कर बड़ा होना चाहते हैं। अपने सामने के काँटों को नष्ट करने में—चाहे जीवन तक भले

ही चला जाय—वे अन्तिम घड़ी तक शक्ति का प्रयोग करते हैं। जिसने अपनी प्रेमिका के पाने की चेष्टा नहीं की है, उसका पूर्ण विकास हो ही नहीं सकता।

पाश्चात्य प्रेम पर हम नाक-भौं सिकोड़ते और कह देते हैं कि वहाँ के लोग संयम और सच्चरित्रता खो बैठे हैं। शक्ति के अपव्यय के भय से संयम और सच्चरित्रता की शायद ही रक्षा हो जाय; पर जब पाश्चात्य-देशवासियों के विजय-रथ की धूल से धूसरित होंगे, तब हमारे देशवासी आकाश की ओर शून्य नेत्रों से देखकर कहेंगे—सब मिथ्या है—माया है!

आज सारा संसार एक सूत्र में बँधा हुआ है। जहाँ-कहीं थोड़ा-सा भी कम्पन होता है, सारा संसार आँखें खोलकर देखता है—उत्सुकतावश पूछता है—आख़िर बात क्या है? यह समन्वय का युग है।

सारे संसार के नौजवान इस बात को ख़ूब अच्छी तरह से समझ रहे हैं कि प्राच्य और पाश्चात्य देशों की सभ्यता और संस्कृति की दीवार अधिक दिन तक टिक नहीं सकेगी, भूमिसात् होकर रहेगी। उसी महा-समन्वय के दिन में सारे संसार के लोग बंधुभाव से मिलेंगे।

स्वतंत्र वायुमंडल में प्रतिपालित होने के कारण पाश्चात्य-देशवासियों में हमसे अधिक प्रतिभा का उन्मेष हुआ है। जिनमें प्रतिभा अधिक है, उनमें वासना भी अधिक होती है। जो अरसिक हैं, वे भले-बुरे के कुतर्क से मनुष्य के विकास में बाधा पहुँचाते हैं। जो जीवन के पिच्छिल पंथ पर बढ़ना नहीं चाहते, वे कर-पद-शून्य जगन्नाथ की तरह निठल्ले बैठकर नीतिशास्त्र (Ethics) की दुहाई देते फिरते हैं। जो दुर्बल हैं, वे मौक़ा पाने पर अत्याचार करने ही में अपनी प्रतिष्ठा समझते हैं।

भारतवासी शक्तिहीन हैं; इसीलिये स्त्रियों पर अत्याचार करते हैं—उनकी तारीफ़ करते हैं 'पतिव्रता' कहकर—अपनी स्त्री पर अधिक आसक्त होनेवाले पुरुष की हँसी उड़ाते हैं 'स्त्रैण' कहकर।

पाश्चात्य-समाज आज इतने असंयम में भी नष्ट-भ्रष्ट न हो सका। इसका एक कारण है। उनके प्रेम में शक्ति है। वे जब जिस वस्तु की चाह करते हैं, तब उसे इच्छा-भर पाने के लिये तन-मन से चेष्टा करते हैं। इसलिये उनकी चाह में भी उनकी शक्ति प्रस्फुरित होती है। हम लोगों में से बहुतेरे विना चाहे पा जाते हैं; इसीलिये हमारी यह

विडम्बना है। प्राप्ति ही में जीवन की सार्थकता नहीं है; बल्कि उसकी चाह की चेष्टा ही बृहत्तर है।

मैं अपनी दिली बातें समाप्त करने के पूर्व स्पष्ट कह देना चाहता हूँ कि मैं स्वर्ग-नरक का इस दुनिया से पृथक् अस्तित्व नहीं मानता। मोटी-सी बात है—'विना मरे स्वर्ग किसने देखा ?' इस सुजला-सुफला शस्यश्यामला पृथ्वी को ही संसार के मनुष्य चाहें तो कवि-कल्पित स्वर्ग बना सकते हैं, और असंभव को संभव कर दिखा सकते हैं।

आदित्यप्रसन्न राय

मुन्नी की डायरी

पहला परिच्छेद

काली करतूतों से भरी हुई स्मृति बड़ी आह-भरी और दर्दनाक होती है। मैंने बाल्यकाल में पशुवत् आचरण किया था, नारकीय कर्म किया था।

मेरा जन्म सन् १९०५ में हुआ था। मेरे पिता जजमानी करते थे। उससे हमलोगों को खाने-पीने के बाद कुछ बच ही जाता था। जब मैं छः वर्ष का बालक था, तब अपने माता-पिता के साथ सोता था। हमलोगों का काशी में निजी मकान था। मेरे माँ-बाप मुझे बहुत प्यार करते थे। उस समय मैं ही उनका एकलौता था।

क्या कहूँ, किसे दोष दूँ, समझ में नहीं आता। एक दिन मैं सोने की कोठरी में पढ़ रहा था। मेरे पिताजी आकर बिछौने पर बैठ गये। रात के आठ बज गये थे। जाड़े का दिन था। मेरी माता भी खा-पीकर कमरे में आई और पिताजी के पास बैठ गई। पिताजी शिक्षित थे। माताजी तो लकीर खींचना भी न जानती थीं; परन्तु घरेलू

कामों में निपुण अवश्य थीं। मेरे पिताजी ने उसी समय मेरे सामने ही माताजी का मुँह चूम लिया और अपने दोनों हाथों से उन्हें अपने वक्षस्थल से लगाया ! उस समय मेरी उम्र नाजुक थी; पर मैं चुलबुला और तेज़ ज़ेहन का था।

नन्हें-नन्हें पाँच-छः वर्ष के बालकों में भी सुख-दुख, हर्ष-विमर्ष का अनुभव होता है। उनका भी रक्त-मांस का शरीर होता है। उसमें रोमांच भी होता है। नई वस्तु के रहस्य को देखने की इच्छा उनमें भी होती है। वे कौतुक-प्रिय होते हैं। क्षणिक सुख का आनन्द वे भी लुक-छिप कर लेना चाहते हैं।

पिता-माता के उस कार्य का मेरे मस्तिष्क पर बहुत जबर्दस्त प्रभाव पड़ा। उस समय मेरा शरीर रोमांचित हो आया। मुझे उस कार्य के रहस्य का पता लगाने की इच्छा हुई। पिताजी ने लालटेन धीमी कर सो जाने की आज्ञा दी। मैंने वैसा ही किया, पर मुझे नींद न आई।

यह वह घड़ी थी जिसने मेरी नस-नस में कमज़ोरी भर दी। दस बज गये थे। चारों ओर सन्नाटा छा गया था। मेरे माता-पिता आपस में मुँह-ही-मुँह में बातें कर रहे थे। बीच-बीच में एक दूसरे के चुम्बन का आनन्द ले

रहे थे। उस समम उन्होंने क्षण-भर के लिये यह नहीं सोचा कि लड़का अभी तक सो गया है या नहीं। वे कामांध हो गये थे, पागल हो गये थे। मैं अपनी लिहाफ से आँखें खोलकर कौतूहलवश देखता था। यह मेरा दोष था।

दूसरे ही दिन प्रातःकाल मैं अपने ही साथ खेलने-वाली लड़की को ढूँढ़ लाया। मैं इसी तरह मोह में फँस गया, अन्धकार के गर्त्त में गिरता गया, जहाँ मुझे रोशनी दिखलाकर उबारनेवाला कोई न मिला। वर्तमान समाज में मेरी ही तरह बहुतेरे लड़के और लड़कियाँ, बुजुर्गों की आँखों की आड़ में, यौवन-कली खिलने के पूर्व ही, नार-कीय लीला के द्वार का उद्घाटन करने लग जाते हैं। कोई सम्हल जाता है, तो कोई गहरे खड्ड में जाकर अपनी जीवन-नौका को चूर-चूर कर देता है।

बात-बात पर कोसनेवाले और डपटने वाले बुजुर्गों के मुँह में समाज के नारकीय कर्मों को साफ-साफ कहने में ताले पड़ जाते हैं। मैथुन-संबंधी बातों को कहने से वे मुँह मोड़ते हैं। वर्तमान समाज के वक्षस्थल पर जितने व्यभिचार होते हैं, उन्हें स्पष्ट गंभीर शब्दों में कहने ही में भला है। ये बातें कब तक छिपाई रक्खी जा सकती

हैं—मेरी समझ में नहीं आता। अरे दिन-दहाड़े पशु-पक्षियों को गली-कूचों में बच्चे मैथुन करते नहीं देखते ? क्या वे उसका कुछ भी मतलब नहीं समझते ?—कौतुक-प्रिय बच्चों को बुजुर्गों से अधिक रहस्यमय बातों के जानने की उत्कट इच्छा रहा करती है।

पढ़ने-लिखने में मैं तेज़ था। मैं स्थानीय जे० एन० हाई स्कूल में पढ़ता था। मेरे सहपाठी और मास्टर लोग मुझे बहुत मानते थे ! मैं हमेशा दर्जे में अव्वल निकलता था।

मेरी बुरी आदतों ने स्कूल में नया रूप धारण किया। वहाँ सभी दर्जे के लड़के मेरे साथ हिलते-मिलते थे। बहुत-से हसीन लड़के मेरे साथ नाज़-नखरे करते थे। मैं कब तक उनसे पिंड छुड़ाता ?

मैं अपने बुजुर्गों से दूर-ही-दूर रहा करता था। मैं उनसे अपने कुकृत्यों को छिपा रखने की चेष्टा किया करता था। मुझे स्कूल के मास्टरों के साथ पहले की तरह घुलने-मिलने में भय-सा मालूम पड़ता था। दिमाग़ कमज़ोर होता जाता था। पहले की अपेक्षा बहुत ज्यादा परिश्रम करने पर कहीं पाठ ठीक से याद होता था, पर फिर जल्दी भूल भी जाता था। हरारत बनी रहती थी !

जो शिक्षा मैंने माँ-बाप के शयनागार में पाई, वह स्कूल में चरम सीमा पर पहुँच गई। दो-एक छात्र-हितैषी मास्टरों ने मुझे कई बार टोका सही, पर उससे मैं न सम्हल सका। उन बेचारों का मास्टरी की तनख्वाह से ही गुजर-बसर नहीं होता था। उन्हें ट्यूशन करने पड़ते थे, कौड़ी-कौड़ी का हिसाब करना पड़ता था। उनके प्रति मेरी हार्दिक श्रद्धा और भक्ति है।

वर्तमान शिक्षा-प्रणाली में छात्रों और शिक्षकों का सम्बन्ध ठीक एजेंट और व्यवसायी के सदृश है। इस लिये साधारणतः बालकों पर अध्यापकों के उच्च चरित्रों की छाप नहीं पड़ने पाती। मुझपर भी उनका कुछ प्रभाव न पड़ा।

उस समय मेरी उम्र पन्द्रह वर्ष की रही होगी। मेरे शरीर पर पीलापन छा गया था। आँखें धँस गई थीं, दृष्टि क्षीण हो गई थी, गाल पिचक गये थे। खाने-पीने में रुचि नहीं थी। जो देखता था, वही ताना मारा करता था।

मुझे अपने जीवन से घृणा होने लग गई थी। मैं बार-बार आत्महत्या करने की चेष्टा किया करता था, पर मेरी अन्तरात्मा मुझे रोकती थी, समझाती थी—"अब भी सम्हल जाओ, सन्मार्ग पर चलो।"

एक दिन मैं एक वैद्यराज के पास अकेले में जाकर उनके पैर पकड़कर बहुत देर तक रोता रहा। उनका हृदय पिघल गया। उन्होंने मुझे सांत्वना दी—बड़ी दिल-चस्पी से मेरा इलाज किया। संयत रहने के लिये आदेश दिया।

ऐसा था मेरा बालपन—जीवन का प्रभात! मैं कभी-कभी संसार के मनुष्य-रत्नों के बाल्यकाल से अपनी बाल्या-वस्था की तुलना करने की चेष्टा करता था, तो मेरा हृदय भारी हो जाता था, काँपने लगता था।

आह! वह बाल्यकाल, जब आनन्द-कानन में हम खेलते-कूदते, अपने माँ-बाप के अंक में बिहरते और अच्छी शिक्षा पाते हैं, जब जीवन-अट्टालिका की सुदृढ़ नींव बनाई जाती है, तब मेरे-ऐसे कितने ही हतभाग्य मनुष्य कुकाम-नाओं के चक्कर में पड़कर अपनी अधखिली जीवन-कली को असमय में ही झुलसा देते हैं!

दूसरा परिच्छेद

यौवन की ड्योढ़ी पर मैं पैर रख चुका था। इधर मैं बिल्कुल स्वस्थ और हट्टा-कट्टा हो गया था। एक दिन दोपहर को मैं अपनी कोठरी में बैठकर हारमोनियम बजा रहा था। साथ-साथ कुछ गाता भी जाता था।

पास-पड़ोस की औरतें मेरी माँ के साथ गप-शप करने के लिये अक्सर आया करती थीं। वे मुझे लय से गाते सुनकर दोतल्ले से उतर आईं; मुझे घेरकर बैठ गईं। उस समय उनके सामने गाते मुझे बड़ी लज्जा मालूम पड़ने लगी। मैं केवल हारमोनियम बजाता जा रहा था। उनमें से कुछ बातूनी औरतें बोल उठीं—"गाओ कि बस इसी तरह पों-पाँ करते रहोगे!"

मैंने उन्हें दो-एक गाने सुनाये। उन्हें वे अच्छे लगे। वे और भी सुनाने के लिये जिद करने लगीं। थोड़ी देर के बाद उनमें से बहुतेरी चली गईं।

स्त्रियों के साथ स्वतंत्रता-पूर्वक मिलने-जुलने का यहीं श्रीगणेश हुआ। पहले-पहल उनसे बातें करते ही मेरा शरीर रोमांचित हो जाता था, काम-वासना भभक उठती

थी; पर जब नित्य उनसे इसी तरह मेल-मुलाकात करने का सिलसिला जारी हो गया, तो धीरे-धीरे वे भाव जाते रहे। मैं जिस तरह पुरुषों के साथ सहज भाव से बात-चीत करता था, उसी तरह उनसे भी करने लगा।

मेरे यहाँ जितनी औरतें आती थीं, सबकी प्रकृति में भिन्नता थी, विचित्रता थी। कोई अधिक हँसमुख थी, कोई मिलनसार, कोई विनोदप्रिय, कोई सात्विकभावापन्न, कोई धीर और गंभीर।

संसार में एक ही प्रकार की रुचि और आकांक्षा रखने-वाले स्त्री-पुरुष का प्रेम और विवाह होना यद्यपि असंभव नहीं, तथापि कठिन अवश्य है। वर और कन्या में एक दूसरे को अच्छी तरह समझे-बूझे बिना जो अधिकांश विवाह होते हैं, उसका फल प्रत्यक्ष वा अप्रत्यक्ष रूप से स्त्रियों ही को भोगना पड़ता है।

मेरे यहाँ नागेश्वरी नाम की एक चौदह वर्ष की ऐसी ही अभागी बालिका आती थी। उसका विवाह एक चालीस-पैंतालीस वर्ष के अधेड़ क्या बूढ़े से हुआ था! वह पढ़ी-लिखी थी। उसका स्वामी बिलकुल अशिक्षित था। वह सुरसिका थी, उसका पति सूखे काठ की तरह रूखा! उनमें

पटरी नहीं बैठती थी। कुछ ही दिनों के संसर्ग से उससे मेरा प्रेम हो गया।

मैं लाचार था, पराधीन था। नहीं तो शायद उसे लेकर भाग ही निकलता। कुछ उपाय सूझ नहीं पड़ता था। मैं बहुत बेचैन था। दिन-रात मुझे बस यही एक चिंता, फोड़े के सदृश, सताने लगी।

जहाँ हृदय में प्रबल इच्छा है, घूमने-फिरने की स्वच्छंदता है, वहाँ उपाय तो आप-से-आप चला आता है।

मित्रों से बातचीत हुई। अपने मतलब के स्थान का मुझे संधान मिल गया। वहाँ जाकर सब ठीक-ठाक कर लिया।

मैंने उससे उसी दिन वहाँ चलने के लिये कहा। वह राज़ी हो गई। वह मेरे साथ जाने के लिये अपने घर गई। वहाँ उसने कपड़ा बदलकर रेशमी साड़ी पहन ली। पीतल की डोलची में धूप-बत्ती, बतासा, माला-फूल सजाकर आ गई।

मेरे आगे-आगे वह चलने लगी। मैं उसके पीछे-पीछे दो सौ क़दम के फासले पर जा रहा था। रास्ते में हम दोनों ने एकदम कोई बातचीत नहीं की।

नागेश्वरी को अभी तक मैं अपने से अधिक चालाक नहीं समझता था; पर उस दिन उसका हाव-भाव देखकर

मैं दंग रह गया। थी तो वह साँवली, पर शरीर बहुत ही गठीला और सुन्दर था। उसे लोग भोली-भाली समझते थे, पर मेरी निगाह में वह बहुत चलता-पुर्ज़ा थी।

ब्रह्मनाल मुहल्ले में हमलोगों के मकान थे। वह लाहौरी-टोले में आकर रुक गई। फिर उसने मुझे आगे चलने के लिये इशारा किया। मैंने वैसा ही किया। हम बंगालीटोला पहुँच गये।

तीसरा परिच्छेद

जिस मकान में खुफियाखाना था, उसमें यकायक कोई पहुँच नहीं सकता था। दरवाज़े के पास एक अधेड़ औरत बैठी हुई थी। उसने मुझे जाते ही पहचान लिया, दरवाज़ा खटखटाया।

किवाड़ खुल गये। नागेश्वरी को मैंने अंदर जाने के लिये कह दिया। वह चली भी गई। मैंने उस औरत को चार आने पैसे दिये, और भीतर घुस पड़ा।

वहाँ जाने का मेरा यही पहला मौक़ा था। मकान चौमंजिला था। गली के कोने में बसा हुआ था। खुफ़िया-खाना की एक कुटनी ने उसे भाड़े पर ले रक्खा था। उसमें नौ कोठरियाँ थीं। नल, पाखाना, खाट-बिछौना, सब कुछ था।

दूसरे मंजिल की तीसरी कोठरी खाली थी। नागेश्वरी आँगन में खड़ी थी। मैं उसे इशारा करता हुआ सीढ़ी पर चढ़ने लगा। ऊपर पहुँचकर हम दोनों कोठरी में घुसे।

कुछ देर तक हम एक दूसरे से कुछ बोल न सके। दोनों के हृदय में धड़कन थी, भय था। नागेश्वरी के ललाट पर पसीने की बूँदे साफ़ दिखाई पड़ रही थीं।

मैं जब थोड़ा प्रकृतिस्थ हुआ तब मैंने नागेश्वरी के मुख-मंडल पर झलकते हुए स्वेद-कणों को पोंछा। वह फिर पहले की तरह हँसने-बोलने लगी।

उस मकान में जाने पर मुझे वहाँ आई हुई हर-एक स्त्री से घुलने-मिलने की इच्छा हुई। मैं उनकी घरेलू अवस्था और यहाँ आने के कारण जानना चाहता था। मैंने घर की मालकिन को बुलाया। उससे अपना मनोरथ कह डाला।

उसने उनमें से कुछेक का परिचय कराने के पूर्व मुझसे बड़ी-बड़ी कसम खिलवा ली, ताकि मैं उनका रहस्य किसी से न कहूँ।

——～～～——

चौथा परिच्छेद

नागेश्वरी ने बात छेड़ी तो एक स्त्री ने, जिसका नाम सरला था, अपने स्वामी के विषय में बड़ी मनोरंजक कथा सुनाई। उसकी उम्र पच्चीस-छब्बीस वर्ष की थी। देखने में गेहुँआ रंग की थी, यथेष्ट स्वस्थ भी थी।

उसके स्वामी की उम्र उससे बहुत ज्यादा तो नहीं, केवल चार ही वर्ष अधिक थी—वह घर का सपन्न था, बहुत मोटा भी था। वह दिन भर दूकान ही पर रहता था। केवल दोपहर को आध घंटा के लिये खाने-पीने आता; फिर चला जाता था। रात को दूकान से करीब नौ बजे लौटता। खा-पीकर जो लम्बी तानता तो सुबह सात ही बजे की ख़बर लेताथा। देखने से उसे कोई पुरुषत्व-हीन नहीं कह सकता था।

जब पहले-पहल सरला ससुराल आई, तब उससे घनिष्टता हुई कोठी के नौकरों से! क्या करती? उसका रक्त-मांस का शरीर था। यौवन की उमंग शरीर पर लहराती थी। उससे किसी व्रत का पालन नहीं होता था।

उससे मैंने पूछा—घर-ही पर जब तुमको काफ़ी साधन है, तो यहाँ आने की क्या आवश्यकता है?

उसने लज्जित होकर जवाब दिया—दुनिया में सभी रुपये के भूखे हैं।

मैंने पूछा—तुमको किस बात की कमी है?

उसने कहा—अरे भाई! आप जानते नहीं, सेठ साहब बड़े कंजूस हैं—मुझे खर्च के लिये रोज सिर्फ़ दो रुपये मिलते हैं। उसीमें से तेल, साबुन, जलपान आदि अपना सारा खर्च चलाना पड़ता है और कभी-कभी पास-पड़ोस के लोग तथा आत्मीय जन आ जाते हैं, तो मुझे उन्हीं रुपयों से उनकी खातिरदारी भी करनी पड़ती है। सुनने में तो बड़ा अच्छा है कि नित्य दो रुपये मिलते हैं, घर-बैठे महीने में साठ रुपये। पर जो कुछ मिलता है उसीमें से बचाकर रखती हूँ तो यहाँ के लिये काफी हो जाता है।

मैंने पूछा—क्या तुम सेठ को कभी उसकी नामर्दी पर डाँट-फटकार नहीं सुनातीं?

उसने उत्तर दिया—हाँ-हाँ, क्यों नहीं। सुनाने पर ही तो अब दर्शन करने के बहाने बाहर निकलने पाती हूँ। हा! ईश्वर ने मेरी भाग्य-लिपि में ऐसा ही लिख रक्खा था। माँ-बाप ने जिसके साथ विवाह कर दिया उसीको लेकर तो जिन्दगी काटनी ही पड़ेगी। जाने दो, उन बातों

को याद करना बुरा है—उससे अपने ही हृदय को दुःख होता है—माँ-बाप पर क्रोध आता है—अपनी परवशता पर आत्मग्लानि होती है।

मैंने सहानुभूति दिखलाते हुए कहा—सचमुच सेठ बड़ा अभागा है! तुम्हारे जीवन को उसने हाहाकारपूर्ण कर डाला है। अच्छा, यह बतलाओ कि उस बाबू से तुम्हारा कैसे और कब सम्बन्ध हुआ?

उसने जवाब दिया—वह बाबू मेरे मकान के ठीक सामने सड़क के उस पार रहते हैं। पहले जब मैं निकल नहीं पाती थी, तब एक दिन मैं खिड़की के चिक को उठा कर इधर-उधर देख रही थी। यकायक उस बाबू पर मेरी निगाह पड़ी। वह उस समय कालेज में पढ़ते थे, नौजवान थे। वह छत पर हाथ में पुस्तक लेकर गुनगुना रहे थे और मेरी ओर आतुर दृष्टि से देख रहे थे। मैं मुस्कुरा पड़ी। वह मेरे भाव को भाँप गये। फिर मुझे घूमने-फिरने की स्वाधीनता मिली, तब हम दोनों यहाँ आ धमके।

मैंने पूछा—तुम्हें तो लड़के-बच्चे नहीं होंगे?

इसका उत्तर सरला ने लज्जित होकर दिया—आप लोगों की कृपा से एक लड़का है।

इतना कहकर वह रामकुमार बाबू की ओर देखने लगी। मेरी हँसी ओठों पर ही रह गई।

इस तरह सरला से बातचीत करते मुझे आनंद और कौतूहल हो रहा था। हम लोगों को वहाँ आये दो-तीन घंटे हो गये थे। आठ बज चुका था। ज्योंही हमलोग जाने को उद्यत हुए, त्योंही उसने नागेश्वरी का हाथ पकड़कर फिर मुलाक़ात करने के लिये प्रार्थना की। हमने उसकी बात स्वीकार कर ली। फिर बिदा होकर चले आये।

पाँचवाँ परिच्छेद

मैं सभ्य संसार की दृष्टि में चरित्रहीन अवश्य था, पर उस दिन से मुझे प्राइवेट प्रश्नों और समाज के अन्दर नित्य पर्दे की आड़ में होनेवाले नारकीय व्यापार को खूब अच्छी तरह से देखने की इतनी उत्कट इच्छा हुई कि मैंने हिंदोस्तान के बड़े-बड़े शहरों और गाँवों की खाक छानी, पुस्तकों के पन्ने टटोले।

प्रचलित आचार-व्यवहार के विरुद्ध खुले आम कुछ करने ही से धर्म और समाज के धुरंधर ठीकेदार चिल्ल-पों मचाने लगते हैं। लुक-छिपकर जो कुछ भी हो, उसकी वे परवा नहीं करते और यदि करते भी हैं, तो उसे छिपाने की कोशिश करते हैं। सोचते हैं—मामले यों ही दबे रह जायँगे।

एक दिन मैं अपने मकान के नीचे गली में अकेला खड़ा था। एक प्रौढ़ा स्त्री मेरे पास आई। वह मुझे परिचित-सी जान पड़ी। मैंने उदासीन भाव से पूछा—अच्छी तरह हो?

उसने फिर अपने बेटे के मरने की करुण कहानी सुनाई। कहते-कहते दो-चार बूँद आँसू भी ढलका गई। बोली—बेटा, एक बार मेरे घर पर चलकर मेरी अवस्था देख लो। हो सके तो कुछ भला करना।

उसके केवल एक पतोहू थी। मैं उस पैसे की भूखी सास के फंदे में पड़कर उसके मकान पर गया। वहाँ उसकी विधवा पतोहू रसोई बना रही थी। पन्द्रह-सोलह वर्ष की भोली-भाली युवती थी। उसके चेहरे को देखने से साफ-साफ मालूम पड़ता था कि वह पुरुषों के चंगुल में अभी नहीं फँसी थी।

उसकी सास ने उसे मेरे पास बिठा दिया और उसको मुझसे मीठी-मीठी बातें करने के लिये उपदेश भी दिया, इसके बाद वहाँ से चल दिया।

उसे देखते ही मेरा हृदय पानी-पानी हो गया।

मैं उससे घंटों बातचीत करता रहा। वह बारह वर्ष की उम्र में विधवा हो चुकी थी। स्वामी को उसने केवल दो-चार बार देखा था। मायके में उस बेचारी के कोई न था। उसके स्वामी की मृत्यु के कुछ ही दिनों बाद उसके माँ-बाप मर गये थे; उसे सास के सिवा और किसीका भरोसा न था। उसका नाम चम्पा था।

उस समय मेरी आर्थिक दशा अच्छी नहीं थी। पिताजी पर पूर्णरूप से आश्रित था। अपना खर्च मैं स्वयं ट्यूशन कर निकाल लेता था। फिर मुझमें इतना साहस भी न था कि उससे विवाह कर लेता।

उसकी एक छोटी-सी मोदी की दूकान थी। भाड़े के जिस मकान में वह रहती थी, उसीके दूसरे खंड में मालिक-मकान भी रहता था, जिसकी शादी हो गई थी। चम्पा की सास पहले उससे बाहर-ही-बाहर दैहिक व्यापार कराकर पैसे वसूल करती थी। मालिक-मकान को कुछ दिनों के बाद इस बात का पता लगा। उसने उसकी बहू के साथ अपना सम्बन्ध स्थापित करने के लिये प्रस्ताव किया और गहरी रक़म देने का प्रलोभन दिया।

उसकी सास प्रलोभन में फँस गई। बेचारी चम्पा ने अपने ही मुहल्ले में, अपने ही मकान में, अपने शरीर को बेचना पसंद नहीं किया। पहले तो उसने सास को झिड़का, कहा—तुम मेरी सास हो, माता के तुल्य हो, पेट के लिये दो टुकड़ी रोटी के लिये, लोगों के सामने हाथ पसारकर भीख माँगने के डर से, लुक-छिपकर शरीर बेचती हूँ। क्या करूँ—लाचार हूँ। फिर जिस मकान में रहती हूँ, उसीमें एक सपत्नीक पुरुष के साथ नाता जोड़ने का परिणाम बड़ा ही भयंकर होगा।

सास ने उसे घर से निकाल-बाहर करने के लिये डराया-धमकाया। उसको सास की आज्ञा शिरोधार्य करनी पड़ी।

बहुत दिनों की बात नहीं है जब मैं चम्पा को अन्तिम

बार देख आया था। उस दिन उसके चेहरे पर पहले दिन की-सी स्वाभाविक कान्ति नहीं देख पड़ी। उसमें रुखाई आ गई थी, सिकुड़न पड़ने लग गई थी। मैंने उससे कुशल-क्षेम पूछा। पर उस दिन दिल खोलकर कोई बात नहीं की।

घर की मालकिन को थोड़े ही दिनों में चम्पा की करतूत मालूम हुई। उसने मायके और ससुराल में होहल्ला मचाकर चम्पा और उसकी सास को मकान से निकाल देने के लिये अपने स्वामी को वाध्य किया। पास-पड़ोस के बाल-वृद्ध नर-नारी चम्पा के नाम पर थू-थू करने लगे। उसकी सास को किसीने मुँह पर कुछ न कहा।

माघ का महीना था। दस बज गये थे। चारों ओर निस्तब्धता छा रही थी। पर वे सब लोग खुर्राटे ले रहे थे। चम्पा ने धीरे से रसोई-घर में जाकर अपने कपड़े पर मिट्टी का तेल छिड़क दियासलाई लगा दी। आग धू-धू कर जल उठी। रात्रि की निस्तब्धता में, एकांत कोठरी में, चम्पा के प्राण-पखेरू उड़ गये। उसका अधजला नश्वर शरीर पृथ्वी पर पड़ा रह गया।

प्रातःकाल चम्पा की सास बिछौने पर बैठे-बैठे बहू को पुकारने लगी—लोटा भर पानी ले आने के लिये।

कोई उत्तर न मिला। क्रोध में आकर रसोई-घर की ओर बढ़ी। यकायक उसे कुछ बदबू मालूम हुई। कोठरी के अंदर घुसकर देखा, चम्पा की झुलसी लाश पड़ी थी।

उसका खून जम गया। सिर सन्नाटे में आ गया। पैरों-तले से पृथ्वी खिसक गई। उसके मस्तिष्क में दुश्चिन्ता चक्कर खाने लगी। वह सहमते-सकुचाते-काँपते सीधे मालिक-मकान के पास चली गई। उससे धीरे-धीरे सब हाल कह सुनाया।

पहले तो वह भी काँप उठा। पुलिस का भय हुआ। पर कुछ देर में जब दिमाग़ ठिकाने आया, तब पास-पड़ोस के दो-एक जिगरी दोस्तों को बुलाकर उनसे सलाह ली और लाश को फुँकवा डाला।

सारा मामला दबा रह गया। चम्पा बेचारी का था ही कौन जो उसकी मृत्यु के कारण का संधान करता—उसके लिये दो बूँद आँसू बहाता!

छठा परिच्छेद

'मुझपर एक मेम-धाई फ़िदा हो गई है'—मेरे मित्र कन्हैयालाल ने कहा।

पर मुझे उसकी बातों पर विश्वास न हुआ। मैंने उदासीन भाव से पूछा—मेम से कैसे दोस्ती हुई यार ?

कन्हैयालाल बड़े आनंद के साथ कहने लगा—हाल में हैरिसन रोड पर लाठी-चार्ज हुआ था। मेरा भी सिर फट गया था। मैं सरकारी अस्पताल में पहुँचा। वहाँ अपना नाम दर्ज कराया और अस्पताल में रहने लगा। वहाँ हर वार्ड में मेम-दाइयाँ रोगियों की देख-रेख करती हैं। वे सिस्टर (बहिन) कहलाती हैं। मेरी सेवा-सुश्रूषा 'मिस एर्नी' नाम की दाई करती थी। उससे मैं अंग्रेजी में खूब बातचीत करता था। कुछ ही दिनों में वह मुझसे प्रेम करने लगी। वह आज आती ही होगी।

इतना कह चुकने के बाद कन्हैया का मुख-मंडल आनंद से खिल उठा। मेरी धारणा थी कि यूरोपियन लेडियाँ प्रायः इसी तरह का शिकार खोजती फिरती हैं। कन्हैया भी शायद इसी तरह नर्स के मोह में पड़ा है।

मैंने उससे पूछा—उस मेम को हिन्दुस्तान आये कितने दिन हुए ?

उसने जवाब दिया—छः-सात वर्ष ।

मैंने पूछा—यहाँ उसका कोई आत्मीय नहीं है ?

कन्हैया ने कहा—जहाँ तक हमें मालूम है, यहाँ तो उसका कोई रिश्तेदार है ही नहीं, शायद इंगलैंड में है।

मेरे मित्र के इस जवाब से मुझे मेम का पूरा परिचय जानने की बड़ी उत्सुकता हुई । करीब बारह बजे वह मेरे मित्र के मकान पर आ धमकी ।

वह तेईस-चौबीस वर्ष की पूर्ण युवती थी । सुन्दर सुडौल देह थी । भरे हुए गुलाबी गाल थे । चेहरे पर कहीं सिकुड़न का नाम न था । देह की कांति दमक रही थी, पर वह अभी तक कुमारी थी ।

कन्हैयालाल ने उससे मेरा परिचय कराया । वह फिर मुझसे निस्संकोच बातचीत करने लगी—इससे मुझे उसके जीवन का सारा वृत्तान्त पूछने का अच्छा मौका मिला ।

मैंने बातों ही बात में उससे पूछा—प्रिय मित्र ! इस संसार में आपके कौन-कौन हैं ?

इस प्रश्न से उसका चेहरा उदास पड़ गया । वह मुझे

नख-सिख निहारने लगी। एक बार खूब मजे में निरख गई।

मेरे विषय में उसकी क्या धारणा हुई—इसका मैं ठीक अनुमान न कर सका। फिर भी शायद उसने मेरी आँखों में सहानुभूति के भावों को भाँप लिया। वह कहने लगी—

मेरा जन्म बर्किंघम में हुआ था। मेरे पिता एक लोहे के कारखाने में मिस्त्री थे। उन्हें बहुत मामूली तनख्वाह मिलती थी। हम लोगों के दिन किसी तरह कट जाते थे। मैं जब दस वर्ष की थी, मेरे पिता का देहांत हो गया। उस समय मेरी माँ की उम्र चालीस वर्ष की थी। दूसरी शादी करने की उम्र बीत चुकी थी। कई संततियों की मृत्यु के उपरांत मैं ही उसकी सहारा थी। इस लिये वह मुझे बहुत प्यार करती थी।

मेरे पिता जिस कारखाने में काम करते थे, माँ ने उसी में क्लर्की के लिये दरख़्वास्त दी। वहाँ के प्रोप्राइटर ने उसे मुलाकात करने के लिये अपने बँगले पर बुलाया। हाय! गरीबी भी क्या गजब ढाती है! वह मनुष्य की अनिच्छा रहने पर भी पेट के लिये सब कुछ करा लेती है!

मेरी माँ सुन्दरी थी, सरल और शान्त स्वभाव की

थी। हमारे देश की बहुतेरी स्त्रियों की तरह वह अन्य पुरुषों से अधिक बातचीत नहीं करती थी। पिताजी की जीविता-वस्था में वह घर-बैठे हम लोगों के और पास-पड़ोस के आदमियों के कोट, कमीज, पैण्ट आदि सीती थी, जिससे कुछ आमदनी भी हो जाती थी। पिता का देहावसान हो जाने पर केवल उसी आमदनी से हम दोनों का पूरा खर्च नहीं चल सकता था। इसलिये मजबूर होकर वह प्रोप्राइटर से मिलने गई।

वह प्रोप्राइटर बहुत धनी था। शहर-भर में उसकी धाक थी। हर-एक सार्वजनिक संस्था से उसका सम्बन्ध था। उसके कारखाने में बहुत-सी स्त्रियाँ काम करतीं थीं। उसकी विवाहिता स्त्री तो थी; पर वह हमारे समाज के साधारण नियम के अनुसार पराई स्त्रियों से भी खूब हिलता-मिलता था। शराब खूब पीता था।

उस दिन मेरी माँ उदास होकर लौट आई। मैंने उसके गले में अपनी छोटी-छोटी बाँहों को डालकर पूछा—माँ, क्या हुआ? नौकरी नहीं ठीक हुई?

मेरी उस नाजुक उम्र में मेरे सहृदयतापूर्ण प्रश्न को सुनकर माँ अपनी मनोव्यथा भूल गई। वह मेरे बालों को

सहलाती हुई मेरा मुँह चूमने लगी। कुछ ही क्षणों के बाद उसकी आँखों से टप-टप आँसू की बूँदें ढुलक कर मेरे मुख-मंडल पर गिरीं। मैंने उसे अच्छी तरह अपने बाहुपाश में बाँधकर हठपूर्वक पूछा—बताओ माँ, मेरे सिर की कसम, क्या हुआ ? कारखाने के मालिक ने क्या जवाब दिया ?

माँ ने लम्बी साँस लेकर कहा—वह बदमाश है—नर-पशु है।

उस समय उसकी बातों का ठीक-ठीक अर्थ मेरी समझ में न आया। आज वह दिन याद आता है। हा······उफ!

इतना कहकर एनी ने लम्बी साँस ली। फिर कहने लगी—उस दिन रात को मैं खा-पीकर सो गई; पर मेरी माँ बहुत रात तक जागती रही, और न जाने क्या-क्या सोचती रही। दूसरे दिन तड़के ही वह फिर उसके यहाँ गई।

साधारणतया किसी उद्योग में सफल होने से मनुष्य-मात्र के चेहरे पर आनंद और निश्चिन्तता के भाव दीख पड़ते हैं, पर उस दिन नौकरी ठीक हो जाने पर भी जब मेरी माँ रात में नौ बजे के करीब लौटी, तो उसके चेहरे पर गंभीर उदासी छा रही थी।

मैंने फिर पूछा—माँ, क्या हुआ ?

'नौकरी ठीक हो गई'—माँ ने बड़े रूखे स्वर में केवल यहाँ उत्तर दिया।

माँ, तुम आज भी उदास क्यों हो ?

मुझे ठीक स्मरण है, इस प्रश्न का उत्तर माँ ने नहीं दिया।

मैं स्कूल जाया करती थी। घर पर माँ से कभी-कभी पढ़ा करती थी। जब से माँ कारखाने में जाने लगी, तब से वह मेरी शिक्षा-दीक्षा में अधिक दिलचस्पी लेने लगी। मैंने थोड़े ही दिनों में, उसकी देख-रेख में, स्कूल की उच्च परीक्षा पास कर ली। विज्ञान मेरा वैकल्पिक विषय था। माँ ने मुझे नर्सरी (धात्री-कर्म) सीखने की सम्मति दी। मैंने वैसा ही किया। उसकी जिन्दगी में ही काम सीख लिया, पर अभी सनद मिलने में देर थी।

मेरी माँ को अक्सर प्रोप्राइटर के बँगले पर जाना पड़ता था। अधिक रात बीतने पर कहीं वह लौटती थी। उसका स्वास्थ्य इधर दिन-दिन गिरता जाता था। वैसे तो पिता की मृत्यु के बाद ही से उसकी शारीरिक अवस्था अच्छी नहीं रहती थी; पर इधर कुछ दिनों से वहुत ही शोचनीय हो गई थी। फिर भी उसको नौकरी के लिये जाना ही पड़ता था।

एक दिन की बात है। पानी बरस रहा था। माँ उस

नर-पशु के यहाँ न जा सकी। दूसरे ही दिन वह आकर कहने लगा। मालूम होता है, तेरे पास काफ़ी धन इकट्ठा हो गया है—इसीसे तेरे मिजाज का पारा बहुत चढ़ गया है!

मैंने उत्सुकतापूर्वक एनी से पूछा—क्या तुम्हारे देश में भी अमीर लोग गरीबों पर ऐसा अन्याय-अत्याचार करते हैं?

एनी ने गंभीर भाव से कहा—क्यों नहीं, इसमें आश्चर्य की क्या बात है? इंगलैण्ड ऐसे स्वतन्त्र देश में फैक्टरियों और मिलों के मजूरों की सुख-सुविधा के लिये क़ानून बने अवश्य हैं, पर धनी के धन के आगे तो न्याय और क़ानून ताक़ पर रख दिये जाते हैं—काफ़ूर हो जाते हैं।

कारखाने का मालिक वही डेविड नामक नर-पशु था।

सोलहो आने का स्वत्वाधिकारी वही था। फ़रियाद करने की कहीं गुंजायश न थी।

मैं माँ का कार्य कर सकती थी। मैंने लाचार होकर उससे दो-एक बार अर्ज़ भी किया कि हो सके तो तुम अपनी नौकरी मुझे दिला दो। मैं काम करती रहूँगी, तुम्हें आराम मिलेगा, तो शीघ्र ही स्वस्थ हो जाओगी। पर वह दृढ़ता के स्वर में उत्तर देती—नहीं, एनी, नहीं,

जब तक जान-में-जान है तब तक तुझे कारखाने की वह घृणित नौकरी नहीं करने दूँगी। तूने नर्सरी सीख ली है। ईश्वर तेरे जीवन को अवश्य सुखी बनायेंगे।

मैं माँ को कुछ न कहती, हृदय मसोसकर रह जाती थी।

मध्यरात्रि का समय था। मेरी माँ की साँस जोरों से चलने लगी। पास-पड़ोस के दो-चार मित्र माँ के बिछौने के पास बैठे थे। मैंने माँ की नाड़ी देखी, हृदय की गति की परीक्षा की। मैंने समझ लिया कि वह इस संसार में अब दो-एक घंटे की ही मेहमान है। मैं उदास होकर बैठी रही। लोग मुझे धैर्य बँधाते रहे।

मेरी माँ की मृत्यु हुए आज चार वर्ष हो रहे हैं। मैं संसार में अकेली रह गई। इस बीच में मुझे नर्सरी की सनद मिल गई। मैं नौकरी की कोशिश में अस्पतालों में अर्ज़ी देती फिरती थी।

मैंने बीच ही में उत्सुकतापूर्वक पूछा—क्यों सरकार, छात्रों की रोटी की व्यवस्था नहीं कर देती ?

एनी ने जवाब दिया—अजी, मेरी ही तरह टोकरियों नर्सें हैं। जब तक किसीका कहीं सिलसिला नहीं बँध

जाता—कौन किसे पूछता है। बहुत जगहों से मुझे निराश होना पड़ा। मैं परेशान थी। मैं अपने योग्य एक वर की तलाश में भी घूमती थी, पर किसी भी नवयुवक ने मुझसे सरल प्रेम से बातचीत नहीं की। सभी मुझे कामांध ही मिले।

स्वदेश में रहते हुए मैं यहाँ का 'स्टेट्समैन' पत्र पढ़ लिया करती थी, जिसमें नौकरियों की आवश्यकता के विज्ञापन छपते रहते हैं। एक दिन मेरी निगाह में यहाँ के एक अस्पताल की नर्सरी के लिये विज्ञापन दीख पड़ा। मैंने दरख्वास्त दी। सौभाग्यवश नौकरी मिल भी गई। मुझ गरीब—रोटी के टुकड़े के मुहताज—के लिये क्या स्वदेश और क्या विदेश ? जहाँ कमाऊँगी वहीं खाने को मिलेगा—वहीं के लोग-लुगाई भाई-बहन होंगे।

मैंने बात काटकर कहा—क्या तुम्हें अपने देश के प्रति प्रेम नहीं है ?

उसने जवाब दिया—पहले था, जब स्कूल में पढ़ती थी। अब स्वदेशभक्ति और राष्ट्र प्रेम के मोह-जाल कट गये।

मैं विस्मित हो उसको घूरकर देखने लगा। मन ही मन सोचता था, यह दुखिया है, संसार के घात-प्रति-घात

खाकर निराशावादिनी हो गई है, स्वदेश-वासियों से घृणा करने लग गई है।

वह मेरे भाव को ताड़ गई। बोली—क्यों, आप क्या सोच रहे हैं? क्या देख रहे हैं?

मैंने अपने चेहरे को सहानुभूतिसूचक बनाकर कहा—हाँ, हर-एक देश में सच बात तो यही है कि दुखिया के दुख को कोई नहीं सुनता। दुनिया अपनी मस्ती में मस्त रहती है!

वह सिर हिलाकर मेरी बातों का समर्थन करती हुई बोली—हाँ मिस्टर मुन्नीलाल, यह कसौटी पर कसी हुई बात है। हर-एक देश में, क्या स्वाधीन और क्या पराधीन, अमीरों का ग़रीबों के प्रति एक-से भाव-बर्ताव होते हैं। जैसे यहाँ आम तौर से जमींदार, पूँजीपति, महाजन, ग़रीबों पर अत्याचार-अनाचार करते हैं, वैसे ही वहाँ भी करते हैं; पर फ़र्क़ इतना ही है कि वह स्वतंत्र देश है, वहाँ के सभी लोग प्रायः शिक्षित और सुसंस्कृत होते हैं। इस लिये वहाँ मजूर, कुली, किसान आदि के साथ यहाँ की अपेक्षा कुछ अच्छे बर्ताव होते हैं। वे स्वच्छन्दता और स्वतंत्रता के साथ भावों का आदान-प्रदान कर सकते हैं। देश व्यवसाय-प्रधान है।

वहाँ रोटी के लिये हर-एक मनुष्य को बहुत परिश्रम करना पड़ता है। वहाँ भी मजूरों को जीवन-यापन करने के लिये उपयुक्त मजूरी नहीं मिलती। इसलिये वे बहुतेरा स्वदेश से बाहर जहाजों पर अफ्रिका, आस्ट्रेलिया आदि दूर-दूर देशों में मारे-मारे फिरते हैं।

मिस एनी की इतनी बात सुनने पर मुझे स्वदेश-भक्ति के प्रति कहे हुए घृणा-सूचक शब्दों के अर्थ कुछ-कुछ समझ पड़े।

मैंने फिर उत्सुकतावश पूछा—आप अपनी मातृभूमि को क्या प्यार नहीं करतीं?

उसने उत्तेजित होकर दृढ़ स्वर से जवाब दिया—कुत्ते-बिल्ली भी जहाँ पैदा होते हैं, उस स्थान को नहीं भूलते, उसे प्यार करते हैं; पर मनुष्य के पीछे मान-अपमान का जो पुछल्ला होता है—रोटी का जो विकट प्रश्न रहता है, वह उसे जहाँ ले जाय, दाना-पानी जहाँ उसे खींच ले जाय, वहीं उसका अपना घर हो जाता है, उसी स्थान को उसे अपना घर समझना पड़ता है। इस लिए मैं रोटी के भिखारी मनुष्यों के लिये मातृभूमि, पितृभूमि आदि शब्दों को बहुत महत्व नहीं देती। एक हिन्दोस्तानी के लिये, जो पेट की खातिर अफ्रिका

में दो पुश्त से निवास करता है, कौन स्वदेश और कौन विदेश है ? जहाँ उसे सुख से खाने को मिले, वहीं उसका स्वर्ग है। वर्तमान मानव-समाज में अपने निज के आदमी भी दो रोज मुफ्त खिलाने में हिचकते हैं, डरते हैं, सहमते हैं। क्या करें बेचारे ? गरीबी उनको पीसे डालती है-दरिद्रता उनके हृदय की सद्भावनाओं को कुचल देती है।

मैंने बीच ही में प्रश्न किया—क्यों, स्वदेश के लिये तो प्राण की बलि देना बड़ा पवित्र कर्म है ! बड़े-बड़े लेखकों और कवियों ने स्वदेश-प्रेम के गीत गाये हैं !

एनी ने पूर्व की अपेक्षा गम्भीर भाव से उत्तर देना शुरू किया—मनुष्य-समाज के इतिहास में पहले-पहल हर-एक स्त्री-पुरुष को स्वाधीनता प्राप्त थी। मनुष्य, मनुष्य पर अत्याचार नहीं करता था। खाने के लिये जंगल के कंद-मूल-फल पर्याप्त थे। धीरे-धीरे मनुष्य का विकास होता गया। थोड़े-से स्त्री-पुरुष छोटे-मोटे परिवार बनाकर एक साथ रहने लगे। कुछ काल में वे परिवार गोष्ठी और समाज के रूप में परिणत हो गये, जिसमें नाना प्रकार के लोग रहने लगे। तब समाज के अन्दर शान्ति बनाये रखने के लिये शासन की आवश्यकता जान पड़ी।

मैंने बीच ही में बात काटकर पूछा—यह आप किस युग की बात करती हैं ?

एनी कहती चली गई—यह आरम्भिक ऐतिहासिक युग से पूर्वकाल की बात है। मनुष्य-समाज का विकास होते-होते पुरुषों को लोहे की उपयोगिता मालूम पड़ी। वह उनके अधिकार में आ गया। नर-नारी के वैषम्य का श्रीगणेश भी यहीं हुआ। एक दल के पुरुष दूसरे दल के लोगों पर आक्रमण करने लगे। जो जीतते थे, वे दूसरे दल के व्यक्तियों पर शासन करते थे, उनकी स्त्रियों को अपने भोग की सामग्री बना लेते थे। फिर धीरे-धीरे कई दलों के सरदार 'राजा' के रूप में परिणत हो गये। इसके बाद मनुष्य ने सभ्य युग में पैर रक्खा। इस युग की तीन मुख्य विशेषताएँ हैं—व्यक्तिगत सम्पत्ति की सृष्टि, मनुष्यों पर राजा आदि का शासन और स्त्री पर पुरुष का निरंकुश अधिकार। बस, यही पूँजीवादी युग की सभ्यता का नमूना है! एक मनुष्य दाने-दाने को मुहताज होकर मरता है, दूसरा ठूँस-ठूँसकर खाता है! राजा, रईस, सेठ-साहुकार और धर्म के ठीकेदार लोग कवियों, लेखकों और विद्वानों को अपना एजेंट बनाकर धर्म और स्वदेश-प्रेम की महिमा का प्रचार करवाते हैं—

अपने स्वार्थ के लिये, अपना उल्लू सीधा करने के लिये। लोगों का खून चूसकर स्वयं मोटा होने के लिये वे यह प्रचार करते हैं कि राजे-महाराजे ईश्वर के दूत हैं, स्वर्गधाम से मर्त्यधाम में आये हैं मनुष्य-समाज को शान्ति-प्रदान करने के लिये, और उस शान्ति-दान के विनिमय में चाहते हैं केवल प्रजा का प्रेम और भक्ति !

उस समय मिस एनी के लम्बे व्याख्यान की सब बातें ठीक-ठीक मेरी समझ में न आई। मैंने फिर उससे उसी प्रश्न को घुमा-फिराकर पूछा—हमारा देश पराधीन है। इस समय हमारा सबसे बड़ा धर्म है जननी जन्मभूमि के लिये तन, मन, धन, जीवन, सर्वस्व का बलिदान देना। आप क्यों स्वदेश-प्रेम की विरोधिनी हैं ?

एनी ने जवाब दिया—अच्छा, पहले आप मेरे एक प्रश्न का जवाब दीजिये। फिर मैं आपको उत्तर देने की चेष्टा करूँगी। राष्ट्रवादी नेताओं के नेतृत्व में खद्दर और स्वदेशी वस्त्र के व्यवहार करने का जो आन्दोलन किया जा रहा है, उसका परिणाम क्या होगा ?

मैंने उसे सिर्फ एक मामूली औरत, मरीजों की सेवा-सुश्रूषा करनेवाली एक नर्स, समझ लिया था; पर ज्यों-ज्यों

बातें होने लगीं, त्यों-त्यों उसके गंभीर अध्ययन का परिचय मिलता गया। मैं उसके उक्त प्रश्न से कुछ सहम-सा गया। फिर मैंने अपनी दलीलें यों पेश कीं—खद्दर के प्रचार से दरिद्रनारायणों को, बेकारों को, असहाया विधवाओं को स्वतंत्रतापूर्वक रोटी मिलती है। यदि हम विदेशी कपड़े या विदेशी माल न लें, तो विदेशियों का व्यवसाय चौपट हो जाय और फिर उन्हें भी यहाँ के गरीबों से सहानुभूति रखने को बाध्य होना पड़े।

एनी ने फिर व्यंग की हँसी हँसते हुए बीच में बात काट कर कहा—बहुत ठीक है, मालूम पड़ता है कि आपके देश के सभी महाजन आप लोगों पर हुकूमत करते हैं और आप इस बीसवीं सदी में चरखा चलाकर और खद्दर पहनकर स्वराज पाना चाहते हैं! आप चाहते हैं, सैकड़ों-हजारों वर्ष के विज्ञान की करामात और उसके दान को नष्ट कर देना।

मैंने उसको बीच में रोककर कहा—देखिये, यांत्रिकता और विज्ञान ने संसार में कितनी बेकारी फैलाई है। पहले प्रायः हर-एक परिवार के लोग चरखा-करघा चलाते थे। वे स्वतंत्र थे। अब इने-गिने पूँजीपति लोग कपड़े की बड़ी-बड़ी मिलें खोलकर हजारों मजूरों की रोटी अपने हाथ में

कर लेते हैं। अब एक-एक मशीन में हजारों घोड़ों की शक्ति होती है। उससे लाखों आदमियों का काम पूरा करा लिया जाता है। इस तरह उन आदमियों के मुँह की रोटी छीनी जाती है। वे बेकार हो जाते हैं। इसलिये हिन्दोस्तान की हर-एक झोपड़ी में जब फिर चरखा चलाया जायगा, तभी स्वराज मिल सकेगा। खद्दर नहीं, तो स्वराज भी नहीं। स्वराज पाने का कैसा पवित्र पथ है!

एनी ने कहा—देखिये मिस्टर मुन्नीलाल, आपने अभी स्वतंत्रता-पूर्वक विचार करना नहीं सीखा है। इस युग में हर-एक परिवार से चरखा चलाने की और खद्दर व्यवहार करने की आशा करना तो मानों मनुष्य-समाज को बर्बर-युग में घसीट ले जाना है—हजारों वर्ष की सभ्यता का ध्वंस करना है। आप स्वयं ही कह चुके हैं कि इने-गिने पूँजीपति मिल खोल लेते हैं, जिससे बेचारे मजूर अकर्मण्य और परतंत्र हो जाते हैं। बात तो असल यह है कि यांत्रिकता और विज्ञान ने मनुष्य-समाज का कुछ नहीं बिगाड़ा है। जो कुछ अनर्थ का मूल है, वह धन-वैषम्य है। हाँ, आपने तो मेरे उस प्रश्न का जवाब ही नहीं दिया कि स्वदेशी-प्रचार के मूल में कौन-सी गूढ़ अभिसन्धि है?

मैंने कहा—यदि इस देश की पूँजी से, देशी मजूरों के सहयोग से, माल बनें और इसी देश में बिकें, तो बेकारी कुछ अंशों में दूर होगी। जो धन बाहर जाता है, वह देश में रहेगा और देश ही के काम में खर्च होगा।

एनी ने कहा—यह सब सत्य है। स्वदेशी-प्रचार से यदि देश के सब भूखे और बेकारों को रोटी मिले, तो अच्छा ही है; पर ऐसा होना बड़ा कठिन है। ग़रीब बेचारों को जो सस्ता मिलेगा, वही वे खरीदेंगे। देखिये, सभ्यता के विकास की पहली अवस्था में, प्रत्येक देश के मनुष्य-समाज में, छोटे पैमाने पर उत्पादन और व्यवसाय होते थे। उन मालों की खपत के लिए बाज़ार भी छोटे थे। जैसे, जो माल मुर्शिदाबाद में बनते थे, वे बङ्गाल के अन्यान्य जिलों में खपते थे—विदेशों में भी भेजे जाते थे। पर आज-कल की तरह कोई सुविधा नहीं थी कि जो माल लंदन और बर्लिन में बनते हैं, वे सारे संसार के बाज़ार में देख पड़ते हैं। विज्ञान ने मनुष्य-समाज का महान उपकार किया है, क्रान्ति मचा दिया है, अंधविश्वास के विरुद्ध युद्ध छेड़ दिया है, मनुष्य की शक्ति को असीम बना दिया है। जैसे ज़हर के दुरुपयोग से जान का ख़तरा रहता है, वैसे ही

पूँजीपतियों द्वारा विज्ञान और यंत्रों के दुरुपयोग से मनुष्य-समाज का नाश भी होता है। देखिये न, हाल ही के जर्मन-युद्ध में क्या गुल खिला ? जर्मनी के इने-गिने पूँजीपतियों को सनक सवार हुई कि संसार के व्यापार पर उन्हींको किसी भी लागत पर एकाधिकार मिलना ही चाहिये। इस साम्राज्यवादी उद्देश्य-सिद्धि के लिये उन्होंने धन के बल पर बड़े-बड़े वैज्ञानिकों से मनुष्य-जाति का संहार करनेवाली गैस बनवाई। असंख्य गरीब, बेचारे, निरीह सैनिक के रूप में, बलि के बकरे की तरह, मशीन-गन और तोप-बन्दूक तथा बम के शिकार बनाये गये। उफ़! धनाढ्य मनुष्य कितने स्वार्थी होते हैं! वे अपने स्वार्थ के आगे किसीकी कुछ सुनना नहीं चाहते! जिन हवाई-जहाज, रेल, तार आदि से मनुष्य का कितना हित-साधन होता है, उन्हींसे युद्ध के समय पाशविक कर्म कराये जाते हैं।

एनी बिना रुके कहती गई—देखिये, योरप ही के कई देशों में बेकार लोग बढ़ रहे हैं, भूखों मर रहे हैं। और, वहीं रूस में साम्यवाद का अटल राज्य है—जहाँ न कोई गरीब है—न कोई अमीर। सारे देश की जमीन-जायदाद राष्ट्र की संपत्ति हो गई है। जो जिस योग्य है, उसे उसकी

रुचि के अनुसार राष्ट्र की ओर से काम दिया जाता है। लोग मेहनत करते हैं, ठीक-ठीक मजूरी पाते हैं। न पैसै के लिये हाहाकार कर मरते हैं और न दूसरे का उत्कर्ष देखकर जलते हैं। वहाँ अदना से अदना मनुष्य को भी अपने विकास का पथ प्रशस्त मिलता है, नागरिक मात्र को समान अधिकार प्राप्त हैं।

मैंने छेड़ा नहीं, वह कहती ही चली गई—चूँकि संसार के प्रत्येक देश की उत्पादनशक्ति बढ़ गई है, इसलिये विज्ञान की करामात से सारे संसार के देश एक तार में गुँथे हुए हैं। भारत इस नियम का अपवाद नहीं है। इसलिये यहाँ से यांत्रिकता और विज्ञान को दूर करने का स्वप्न देखना व्यर्थ है। इस बीसवीं शताब्दी में चरखा चलाकर और खद्दर पहन कर स्वराज्य प्राप्त करने का स्वप्न देखना तो मानों हवा में किला बनाना है। देखिये, चरखे का तीव्र आन्दोलन चलते रहने पर भी देखते-देखते देश में कितनी ही कपड़े की मिलें खुल गईं और अब तो स्वदेशी मिल के कपड़ों के व्यवहार करने पर ही जोर दिया जा रहा है।

मैं एनी की बातें सुनकर दंग रह गया। निरुत्तर बैठा रहा। कोई तर्क-युक्ति न सूझ पड़ी।

वह फिर कहने लगी—इस समय योरप, अमेरिका

आदि के प्रत्येक देश उन्नति-शील हैं। वहाँ के बाज़ार भरे पड़े हैं। पूँजीपतियों की बड़ी बुरी दशा है। तिजारत मंद पड़ गई है। स्टाक में माल भरा सड़ रहा है। साधारण लोगों में खरीदने की शक्ति नहीं रह गई है। आज अफीमची चीन भी जाग गया है। नवीन फारस, तुर्क, मिश्र, पैलेस्टाइन, फिलिपाइन आदि चेत गये हैं, जाग गये हैं। यह सब योरप और अमेरिका के पूँजीपतियों की चाल का परिणाम है। देख लेना, भारत भी निकट भविष्य में पाश्चात्य देशों की तरह कल-कारखानों से भर जायगा। थोड़े-से लोगों को कुछ दिनों के लिये चैन से रोटी मिलेगी; पर अधिकांश बेकार ही रहेंगे।

मैंने कहा—इसका परिणाम भी तो अच्छा नहीं मालूम पड़ता।

एनी ने कहा—परिणाम यही होगा कि गरीबों और अमीरों का श्रेणी-युद्ध स्पष्ट और उग्र रूप धारण करेगा। चरखा, खद्दर और स्वदेशी-आन्दोलन की आड़ में भारतीय पूँजीपतियों का बोलबाला हो रहा है और अप्रत्यक्ष रूप से बेकारी बढ़ रही है। जिसमें शान्ति का स्वप्न देखा जा रहा है, उसमें घोर अशान्ति के बीज छिपे हुए हैं।

सातवाँ परिच्छेद

कुछ देर के बाद मुझे एनी की बातों पर संदेह होने लगा। सोचने लगा—यह नर्स विलायत की रहनेवाली मेम है। मेरे दोस्त पर फ़िदा हो चुकी है। वह कांग्रेस के काम में लाठी खाकर खोपड़ा फोड़वा चुका है। इसीकी सेवा से वह शीघ्र स्वस्थ हुआ है। बस इसीलिये—सचमुच इसी-लिये यह बार-बार कांग्रेस के काम से दूर रहने की बात समझा रही है।

मैं हँसने लगा। एनी और कन्हैयालाल मेरी ओर देखने लगे। मुझसे उन्होंने मेरे हँसने की कैफियत पूछी।

मैं कन्हैयालाल की ओर मुँह करके मुस्कुराता हुआ कहने लगा—भाई, मिस एनी ने बहुत अधिक अध्ययन किया है। इसलिये वह हमें अपनी वाक्शक्ति से समझा-बुझाकर कांग्रेस से दूर रखना चाहती हैं।

कन्हैयालाल ने मुस्कुराते हुए जवाब दिया—नहीं जी, मिस एनी का कहना बिल्कुल ठीक है········!

व्यंगपूर्ण हँसी हँसकर, चेहरे को विकृत कर, मैंने जवाब दिया—अरे भाई ! ठीक क्यों न होगा !

कन्हैयालाल मेरे मतलब को भाँप गया। कहने लगा–भई वाह ! अपने हृदय की बात कोई स्पष्ट कहने भी न पाये ? यह तो तुम्हारी सरासर ज्यादती है !

हम तीनों खिलखिलाकर हँस पड़े। कुछ देर तक कोई कुछ न बोला। केवल हमारी हँसी प्रतिध्वनित होती रही।

इस बार फिर मैंने अपना पुराना राग छेड़ दिया—क्यों एनी ! आपके देश में तो प्राइवेट हाउस न होंगे ?

एनी—क्यों ?

मैं—क्योंकि आपके देश में पर्दा-प्रथा नहीं है—स्त्री-पुरुष आपस में बे-रोक-टोक मिल-जुल सकते हैं।

एनी ने उत्तेजित होकर जवाब दिया—जहाँ एकपतित्व और एकपत्नीत्व है—जहाँ नर-नारी में असाम्य है—जहाँ पुरुष अपनी स्त्री को व्यक्तिगत संपत्ति समझता है, वहाँ गुप्त व्यभिचार के अड्डे रहेंगे—रहेंगे, और तब तक रहेंगे, जब तक स्त्री-पुरुष में असाम्य रहेगा।

मैं—अच्छा, कलकत्ते में विदेशियों के जितने अड्डे हैं, उन्हें तो आप जानती होंगी।

एनी ने मुस्कुराते हुए पूछा—क्यों।?

मैंने अपना उद्देश्य साफ़-साफ़ कह दिया। उन अड्डों को दिखाने के लिए भी आग्रह किया।

उसने कहा—हाँ, जानती हूँ।

उस दिन शाम को दिखाने की बात पक्की हुई। एनी कुर्सी से उठ खड़ी हुई। हम लोगों से शेकहैंड करते हुए, फिर ठीक वक्त पर आने का वादा कर, चली गई।

आठवाँ परिच्छेद

सन्ध्या हुई। हम लोगों ने जलपान किया। ठाट-बाट से घूमने के लिए 'टैक्सी' पर निकल पड़े।

कलकत्ता-भ्रमण करने का मेरा यह पहला मौक़ा था। 'सेंट्रल एवन्यू' की सड़क के दोनों ओर बिजली-बत्तियाँ, आकाश के तारों की तरह, जगमगा रही थीं। चारों ओर आलोक-माला से सुशोभित कलकत्ता-नगरी कविकल्पित अमरपुरी की याद दिला रही थी।

मैं मोटर पर तनकर बैठा हुआ था। उस समय अपने को बड़े-से-बड़े लखपती रईस से कम नहीं समझता था! हृदय में मिथ्याभिमान के भाव जाग रहे थे। मोटर सरसराती चली जा रही थी; यकायक रुक गई।

टैक्सी-ड्राइवर नीचे उतरकर क्रोध के आवेश में एक देहाती को डाँट रहा था—अन्धा, गँवार, बेवकूफ; जानता नहीं—यह कलकत्ता है? बगल की पटरी से क्यों नहीं जाता? अभी तू दबकर मर जाता तो मैं फाँसी पड़ जाता!

फिर उसके हाथों को जोर से पकड़कर उसने कहा—

अब भी तुझे अक्ल नहीं हुई, हटकर उस पटरी से क्यों नहीं जाता ?

मुझे उस सीधे-सादे आदमी पर दया आई। मैंने उससे पूछा—कहाँ जाओगे ?

ठेठ देहाती बोली में उसने जवाब दिया—बाबूजी, हम मेछुआबजार जइबै।

उसकी बनारसी बोली मुझे बड़ी मीठी मालूम हुई। मैंने पूछा—कहाँ के रहनेवाले हो ? यहाँ मेछुआबजार में कौन है ?

उसने हाथ जोड़कर जवाब दिया—बाबूजी, हम काशी-जी के रहनेवाला हई—यहाँ आयल हई कमाये-खाये। मेछुआ-बजार में हमार एक संगी हो।

मिथ्याभिमान की नशा मेरी उतरी। मुझे अपनी बेकारी की याद आ गई। मेरी सहानुभूति उमड़ आई। मैंने उस-से बनारसी बोली में बातचीत कर उसे उसके डेरे पर पहुँचा देने का आश्वासन दिया। उसे टैक्सी पर बिठा लिया।

उसके मुँह से उसकी सारी रामकहानी सुनकर मैं सन्नाटे में आ गया। मेरा दिल बैठ गया।

वह जाति का क्षत्रिय था। उच्च वंश का था। उसके

पट्टीदार धनी थे। वह खुद बेचारा बड़ा गरीब था। उसके दो विवाह-योग्य लड़कियाँ थीं। एक दुधमुँहा बच्चा था। वह कलकत्ते में साल-छः महीने रहकर, कुछ नौकरी-चाकरी करके, अपनी लड़कियों की शादी कर देना चाहता था—अच्छे घर में, अच्छे पात्रों से, पूरा तिलक-दहेज देकर।

एक बार मुझे उसकी अज्ञानता और दरिद्रता पर दया आई। फिर दूसरे ही क्षण मेरे हृदय में विद्रोह की ज्वाला भभक उठी।

मेरी बिरादरी में भी तिलक-दहेज लेने-देने का रिवाज है। मेरी भी एक बारह साल की छोटी बहन थी। मुझे याद है, मेरे माँ-बाप व्याकुल थे उसकी शादी के लिये। मेरी माता अक्सर बहन को देखकर कहा करती थी—मेरी बेटी न जाने कैसे आदमी के घर में पड़ेगी, न जाने कितनी दूर जा गिरेगी। मेरा मुन्नी इतना बड़ा हो गया है, मगर उसकी शादी के लिये मुझे एक बार भी चिंता नहीं करनी पड़ती। हाय! ईश्वर लोगों को क्यों बेटी देता है?

बहुत दिनों की बात नहीं है, इस तरह की बातें करते-करते मेरी माँ की आँखें आँसुओं से छलछला आती थीं—कभी-कभी वर्षा की नदी की तरह उमड़ भी पड़ती थीं।

मैं दीर्घ निःश्वास छोड़कर, उस देहाती की पीठ सहलाते हुए, पूछने लगा—कब यहाँ आये भाई ?

उसने सरल भाव से जवाब दिया—दो-तीन दिन मुझे यहाँ आये हो गये। नौकरी-चाकरी की तलाश में दिन-दिन-भर आफिसों में मारा-मारा फिरता रहा; पर कहीं भी आशा न अँटकी। हें-हें, बाबूजी, आप रईस हैं, आप ही अपने यहाँ रख लीजिये न !

मुझे अपनी दशा पर हँसी आई। मैं एंट्रेंस पास कर चुका था। बेकार बैठा हुआ था। पर उस समय मैं विराज-मान था मोटर पर—जा रहा था प्राइवेट हाउस देखने के लिये—दोस्त के बूते पर !

मेरे मित्र महाशय स्वयं संपन्न घर के थे। पर उन्हें नौकर की कोई आवश्यकता न थी। निदान हमलोग बेचारे बनारसी की कुछ भी सहायता न कर सके !

हमने उसे 'मेछुआबजार' में उतार दिया। उसने हम लोगों का ठिकाना पूछा।

मेरे मित्र ने अपना पता लिखकर उसे दे दिया। फिर हम अपने मतलब के ठिकाने चले।

आध घंटा चलने के बाद एनी ने हमको उतरने के

लिये कहा। हमने वैसा ही किया। टैक्सी का भाड़ा चुका कर बिदा किया। एनी के पीछे-पीछे हम लोग चलने लगे।

योरोपियन कार्टर था नगर के अन्य भागों की तरह यहाँ कोलाहल न था। साहब-मेम एक साथ हँसते-बोलते सड़क की पटरियों पर चले जाते थे। युवती मेमें इधर-उधर अकेली चक्कर लगा रही थीं। वे अधिकांश अविवाहिता थीं। उनकी प्यासी आँखों को ध्यानपूर्वक देखने से मालूम पड़ता था कि वे अपने-अपने आशिकों की बाट जोह रही हैं!

एनी से पूछने पर सब बातें ठीक-ठीक मालूम हो गईं। उसने बताया कि ये सब-के-सब प्राइवेट मोटरों या टैक्सियों में बैठकर नगर के निर्जन स्थानों में अपने प्रेमियों के साथ घूमती हैं।

हम लोग एक भव्य तथा स्वच्छ मकान के सामने जाकर खड़े हुए। उस मकान में बिजली की रोशनी चमचमा रही थी। दरवाजे पर हमारे जाते ही एक बुढ़िया मेम आई। उसने अंग्रेजी में बातें कीं। फिर हम अन्दर दाखिल हुए।

इस प्राइवेट हाउस में विशेषता थी। यहाँ जो जिससे चाहे, उससे एकबारगी रुपये के ज़ोर से दैहिक सम्बन्ध

नहीं कर सकता। इसे उसके लिए कुछ खुशामद करनी पड़ती है, कुछ माथापच्ची भी करनी पड़ती है। कारण, मेमें यथेष्ट स्वतंत्र स्वभाव की होती हैं। हमारे देश की औरतों की तरह लजीली नहीं होतीं—मीठी छुरी नहीं चलातीं। वे अपने हृदय की बात को स्वच्छन्दता से व्यक्त करती हैं। ज़रूरत पड़ने पर पुरुषों को अच्छी शिक्षा भी देती हैं। उनमें भोग की लालसा अधिक होती है। किन्तु, यद्यपि उनमें वासना का प्राधान्य रहता है, तथापि स्वतन्त्रता-प्रिय होने के कारण वे अपने मन की बातों को स्पष्ट व्यक्त करने में कभी हिचकतीं नहीं, भारतीय स्त्रियों की तरह अस्फुट वेदना को मूक बनाकर हृदय के अन्तस्तल में दबा नहीं रखतीं।

रह गई प्रेम की बात, सच्चे और स्वच्छ प्रेम की बात—वह तो स्वप्न की स्मृति-सी है—वह कुछ ही सच्ची शिक्षा पाये हुए व्यक्तियों में सीमित है—क्या भारत और क्या योरप, सर्वत्र प्रेम का सौदा होता है।

एनी ने कहा—यह विशेषता केवल भारत में पाई जाती है; क्योंकि साधारणतः यहाँ की मेमों की आर्थिक अवस्था योरपवालियों से कहीं अच्छी है।

बुढ़िया मेम ने पहले समझ रक्खा था कि हम मिस

के साथ दैहिक व्यापार करने के लिये आये हैं। इसलिये वह बहुत देर तक, कोई कमरा खाली न होने के कारण, हमसे गप्पें लड़ा रही थी। हमने उसे पाँच रुपये की भेंट दे दी थी। इससे वह बड़ी खुश थी।

मेरा मन यहाँ पाक-साफ़ नहीं था—चलायमान हो गया था। मिस एनी के प्रति भी मेरे भाव शुद्ध नहीं थे। यह कमज़ोरी मेरी बाल्यावस्था की ही थी। वह युवती थी, मैं युवक था। हम दोनों की उम्र भी क़रीब-क़रीब बराबर थी। शायद ऐसी परिस्थिति में ऐसा होना स्वाभाविक है।

यहाँ मुझे स्वतन्त्र देश की स्त्रियों की चाल-ढाल और हाव-भाव के परखने का और अपने देश की स्त्रियों से उनकी तुलना करने का खूब मौक़ा मिला।

हमारे भारतीय समाज में स्त्री-पुरुष के मिलन में स्वतंत्रता न होने के कारण ही पुरुष साधारणतया स्त्रियों से पशुवत् आचरण करने में समर्थ होते हैं। वे अपनी स्त्रियों को दुनिया-भर की शिक्षा देते हैं—सती-साध्वी होने का उपदेश देते हैं; पर स्वयं वे 'बगुला भगत' बनकर दूसरों की स्त्रियों पर डीठ लगाते हैं। वे अपनी बेर धर्म-कर्म सब भूल जाते हैं।

मैं एनी की ओर बार-बार सतृष्ण नेत्रों से देख रहा था; पर वह शान्त तथा गम्भीर थी।

मैं अधीर हो उठा। मुझमें अपने-आपको सम्हालने की शक्ति न रही।

मेरा मित्र कन्हैयालाल मेरे साथ था। उसकी उपस्थिति के कारण एनी से कुछ बातें करने में हिचक हो रही थी।

मैं कुछ देर तक शांत भाव से सोचता रहा। फिर मैंने यकायक, सबके सामने ही, एनी से कहा—आप ज़रा इधर आइये।

मैं एनी का हाथ पकड़कर आँगन के एक कोने में चला गया। मेरा शरीर पुलकित हो गया। मन में एक विलक्षण आनंद का अनुभव हो रहा था। पर उसका परिणाम अच्छा न था।

एनी कुछ देर के बाद मुझे घूरकर देखने लगी। बड़े गंभीर और शांत स्वर में कहने लगी—मुझे बड़ा दुःख है मुन्नीलाल, आप इसी इरादे से यहाँ आये हैं क्या? आपके मित्र महाशय भी यहाँ इसी उद्देश से आये हैं?

मैं एकदम झेंप गया। फिर वह मुस्कुराकर कहने लगी—बंधुवर मुन्नीलाल, ! सच्चा प्रेम स्वच्छ जल की

तरह पवित्र होता है। वह दो प्राणियों के जीवन को सुखमय बनाता है, दोनों के हृदय को आनन्द से ओतप्रोत करता है। उसमें साझेदारी या दूकानदारी नहीं होती। वह प्रकृति का शाश्वत दान है।

मेरा मदोन्मत्त शरीर एनी के सुधासिक्त शब्दों से शीतल हो गया, हृदय की ज्वाला शान्त हो गई।

मैंने उससे क्षमा-भिक्षा माँगी, तो वह बोली—मित्रवर! मैं माफी माँगने के बहुत पूर्व ही तुम्हें क्षमा कर चुकी हूँ।

फिर मैंने निवेदन किया कि आप किसीसे इन बातों को भूलकर भी न कहें।

उसने मुस्कुराकर, सिर हिलाकर, मेरी बात को स्वीकार कर लिया।

इस बीच में दो-तीन कमरे खाली हो गये थे। बुढ़िया ने हमसे कोठरी में जाने के लिये अनुरोध किया।

हम उसकी बात पर हँस पड़े। वह हमारा मुँह ताकती खड़ी रही।

जब हमने अपना उद्देश कहा तब वह उदास नेत्रों से हमको निहारने लगी। क्या करती बेचारी? रुपये ले चुकी थी!

उसने हमारे लिये आँगन के बीचोबीच कुर्सियाँ रखवा दीं जिनपर बैठकर हम कमरों से निकलनेवाले हिन्दुस्तानी बाबू और साहब-मेम लोगों को देख सकते थे।

बुढ़िया ने हमको हँसी-मजाक करने की सलाह दी, ताकि किसीको हमारा उद्देश्य ताड़ने का मौका न मिले। वह हमारे पास ही बैठ गई।

कुछ ही देर के बाद शराब के नशे में चूर बड़ाबाजार का सुप्रसिद्ध धर्मात्मा सेठ ज्ञानचंद निकला। उसके साथ एक मेम भी हँसती-खेलती निकली।

बुढ़िया ने हमको बताया कि सेठ ने उस मेम के पीछे आज डेढ़ सौ रुपये खर्च किये हैं। उसने कई-एक और धनी-कुल-प्रदीपों को हमें दिखाया। किसीने अपनी काम-वासना चरितार्थ करने के लिये डेढ़ सौ रुपये खर्च किये थे तो किसीने सौ।

उसने प्रसंगवश बतलाया कि किसी-किसी मेम के पीछे भारतीय धनियों को पाँच-पाँच सौ और हजार-हजार रुपये केवल एक बार दैहिक सम्बन्ध जोड़ने के सुख (?) के लिये खर्च करने पड़ते हैं।

मैं मन-ही-मन कहता था—वाह-वाह !! वाह रे धन !!!

तेरी चंचलता पर हमारी कोई आपत्ति नहीं, पर तेरा दुरंगा बर्ताव बहुत खटकता है। तू इकट्ठा हो जाता है लुटेरों के पास, मनुष्यों के खून चूसनेवाले पूँजीपतियों के थैले में। अरे! तूने कितने मनुष्य-रत्नों को धूल में मिलाया है! कितनी खिलती कलियों को असमय में ही तोड़ दिया है! अच्छा, और थोड़े दिनों तक अपनी मोहिनी शक्ति से मनुष्यों को खूब नाच नचा ले—उनपर प्रभुत्व कर ले; पर तू यह भी याद रख कि मुक्ति के पुजारी—मनुष्यत्व के प्रेम में पागल, तेरे ऊपर, मनुष्य-मात्र के हितार्थ, अधिकार जमाएँगे—तुझे समान रूप में, मनुष्य में देवत्व के विकास के लिये, बाँट देंगे। तेरा इसमें भला होगा—कुछ भी अनिष्ट न होगा; पर तेरे वर्तमान अधिकारियों को जान के लाले पड़ेंगे!

ग्यारह बज गये थे। हम चलने के लिये तैयार हुए। हमने मकान के अन्दर धनियों के दरबान, ड्राइवर और नौकरों को भी देखा। वे आये थे अपने मालिकों के साथ मौज करने के लिये—सफेद चमड़े का सौरभ लूटने के लिये!

मैं चकित होकर सोचने लगा—इन्हें इतने रुपये कहाँ मिलते होंगे?

बातों के सिलसिले में सब रहस्य मालूम हो गये। मेरे

मित्र ने कहा—अरे भाई ! भारतीय सेठ-महाजनों की क्या बात करते हो? वे दिन में धर्म और पुण्य का ढोंग करते हैं, और रात में ग़ैर स्त्रियों के पास अपने नौकर-चाकरों के साथ जाते हैं, शराब पीते हैं, रुपये लुटाते हैं। कितने आदमियों को धोखा देकर, गरीबों को ठीक मजूरी न देकर, उनके मुँह की रोटी छीनकर, वे अमीर बनते हैं। फिर धर्म-शालाएँ बनवाते हैं—प्रत्यक्ष स्वर्ग के दर्शन के लिये। प्याऊ खोलते हैं—समाज में अपने अधर्म की पिटारी खुल जाने के भय से।

नवाँ परिच्छेद

जिस तरह मेघाच्छन्न आकाश को चीरकर चन्द्र के उदय होने से पृथ्वीतल उसकी सुशीतल स्निग्ध किरणों से सिक्त और आलोकित हो उठता है; उसी तरह मेरा धर्मान्धता से घिरा हुआ मन, समाज के नारकीय रूप की एक चिनगारी से, उद्भासित हो उठा।

अरे! धर्म की आड़ में कितना निकृष्ट व्यभिचार होता है। देव-दर्शन करने के बहाने मनुष्य को अपने मन की कितनी कुप्रवृत्तियों के चरितार्थ करने का अवकाश मिल जाता है। मथुरा, वृन्दावन, काशी, प्रयाग, गया, नवद्वीप आदि तीर्थस्थानों में मनुष्य के साथ पशु का-सा—पशु से भी गया-बीता—व्यवहार होता है, गरीबों की गाँठ काटी जाती है, स्त्रियों का सतीत्व लूटा जाता है, युवतियाँ और कुमारियाँ बहकाई और भरमाई जाती हैं। कितने दुष्कर्म होते हैं धर्म के नाम पर!

मन्दिर में जाकर घंटा हिलाने से—नाक दबाने से, मसजिद में जाकर नमाज पढ़ने से, गिरजा में जाकर बाइबिल का लेक्चर सुनने से ही यदि धर्म पर मरनेवाले स्वार्थी

पुरुषों को मृत्यु के बाद स्वर्ग मिलता है, हूर और ग़िलमों का आनन्द प्राप्त होता है, तो उनके लिए आज ही मर जाना अच्छा है—'शुभस्य शीघ्रम् ।'

मेरी अन्तरात्मा उस दिन से रह-रहकर पूछा करती थी—धर्म क्या है ? पाप क्या है ? पुण्य क्या है ?

मस्तिष्क को, इन प्रश्नों के ठीक-ठीक उत्तर देने में, आकाश-पाताल एक करना पड़ता था। कभी मन कहता था—जब दिन और रात होती है—पृथ्वी, आकाश, चंद्र, सूर्य, ग्रह, नक्षत्र आदि सब अपने-अपने स्थान में रहकर जब मनुष्य-समाज का कल्याण करते हैं, तब इनका कोई-न-कोई मुख्य सञ्चालक अवश्य होगा, जो इनसे ठीक-ठीक काम करा लेता है। बस, वही परमेश्वर है। उसीका चिंतन करने के लिए, भिन्न-भिन्न देशों के महात्माओं ने, मनुष्य-समाज के कल्याण के निमित्त जो उपदेश दिया है, वही धर्म है ।

हृदय कह उठता—उनके प्रचारित धर्म और आधुनिक प्रचलित धर्म में आकाश-पाताल का अन्तर है।

अन्तरात्मा कहती—मनुष्य में उपस्थित मनुष्यत्व का देवत्व में परिणत होना ही धर्म है। विवेकानन्द का भी यही मत है।

मन पूछता—सच्चे धर्म की व्याख्या—उसका स्वरूप—उसका पथ, सब-के-सब तो अतीव सरल हैं। पर उसके आलोक से मनुष्य-समाज का मन-मन्दिर क्यों नहीं आलोकित हो उठा ?

हृदय ने व्यङ्ग की हँसी हँसते हुए मानों जवाब दिया—हजार-हजार वर्षों से सभ्यता का ढकोसला रचनेवाले धनी-मानी, बुद्धिमान् और विद्वान् पुरुषों ने धूल में सने हुए, कष्ट से घुले हुए, मानव-समाज के एक बड़े भारी अंश को धोखे की टट्टी में रख छोड़ा है—उसे लात मारकर संसार के ज्ञानालोक से दूर रक्खा है। हाय ! मनुष्य-स्वभाव कैसा स्वेच्छाचारी होता है !

कभी-कभी हृदय का अन्तर्देवता न जाने किसको ललकारता हुआ गरजकर कहता—तुम असंभव को सम्भव कर दिखाओ, पाषाण में पुष्प पैदा कर दिखाओ, अत्याचार-पीड़ित तथा लांछित प्राणियों की धमनियों में नवीन आशा-आकांक्षा और उत्साह भर दो, अहंकार से मदमत्त मनुष्यों को धूल में मिला दो। हे चिर-विद्रोही यौवन ! अतीत की मोह-निद्रा को छोड़कर, वर्तमान और भविष्य को उज्ज्वल बनाने के उत्तरदायित्व को अपने न्याय के हाथों में लो।

अब मन्दिर में घड़ी-घंटा बजाकर, मसजिद में नमाज पढ़कर, अल्लाह और ईश्वर के नाम पर, आपस में हो-हल्ला और दङ्गा-फ़साद करने का समय नहीं रह गया है। सुख-शय्या छोड़ो, उठो, देखो, करोड़ों किसानों और मजूरों तथा बेकारों के आर्त्तनाद से संसार गूँज उठा है। बेचारे ग़रीबों के अन्तस्तल में पूर्व और पश्चिम की भिन्नता नहीं है, उनके सामने है केवल रोटी का सवाल! इसीलिए कहता हूँ कि ऐ मुक्ति के पुजारी! अन्धकार जहाँ घनीभूत हुआ है, आकाश में जहाँ चन्द्रमा नहीं है, घर में जहाँ दीप-शिखा नहीं है, पीछे जहाँ कोई शाबाशी देनेवाला नहीं है, मरने पर जहाँ दो बूँद आँसू टपकानेवाला कोई नहीं है, वहीं तुम अपनी तपस्या करते हुए, अनन्त की नीलिमा में, पञ्चभूतों में, विलीन हो जाओ।

दसवाँ परिच्छेद

धर्म-कर्म का विक्रय, उसमें रूप-रंग का क्रय देखा।
लाखों के दूकानदार थे, कौड़ी-कौड़ी का लेखा॥
चारों ओर एक ही पाया, हाँ, मैं हाट देख आया।

—मैथिलीशरण

मैंने समाज में सास-पतोहू को, माँ-बेटी को, बाप-बेटे को, अपने व्यक्तिगत सुख-स्वार्थ के लिये अनायास ही संसार की प्रिय-से-प्रिय वस्तु की तिलाञ्जलि देते देखा है।

सन् १९३० की बात है। मई का महीना था। गर्मी काफ़ी पड़ने लग गई थी। मैं लखनऊ में गलियों की ख़ाक छानता फिरता था—उन अभागे पुरुषों के जघन्य जीवन को देखने के लिये, जिनकी चर्चा करने पर सदाचार के ठीकेदार नाक-भौं सिकोड़ते हैं।

मुझसे कई लड़कों से बातें हुईं। मैंने उनके पतित जीवन की करुण कहानी सुनी, जिसमें माँ-बाप और समाज की उदासीनता, कुशिक्षा और दरिद्रता विकराल रूप धारण किये अट्टहास करती थीं।

एक ने मुझसे कहा—मैं बाल्यकाल ही से बहुत सुंदर

था। लड़कियों के साथ गुड़ियाँ खेला करता था। माँ-बाप का दुलारा था। लड़कियों को चूड़ियाँ पहनते देखकर माँ से मैं भी उन्हें पहनने के लिये ज़िद करता। वे हँसती हुई मुझे पहना देतीं। मैं घर का अमीर था। पढ़ने-लिखने में दिल लगता न था—आवारगी किया करता था। मनचले युवक मेरे साथ हिलते-मिलते थे। मुझे उनके सोहबत में आनन्द मिलता था। कोई कुछ कहता न था—मैं वासना की प्रखर धारा में बहा जा रहा था—कभी-कभी गोते भी खाता था। मुझमें औरतों की चालढाल, नाज़-नखरे आने लग गये थे। मुझे बिगाड़नेवाले और मुझपर हँसने-वाले ही चारों ओर दिखाई पड़ते थे। जब मैं किशोरावस्था को पार भी न कर पाया था, तभी मैंने अपने शरीर को अपने ही हाथों से नष्ट कर डाला। मैं कुछ ही दिनों में बिल्कुल ही नपुंसक बन गया। अब मैं ज़नख़ों के साथ मेल-जोल बढ़ाने लगा। वे मुझ-जैसे पक्षी को अपने पिंजड़े में पाकर कब छोड़ने लगे? वे मेरी कुप्रवृत्तियों को और भी उत्तेजित करने लगे। परिणाम-स्वरूप आज मुझे खुले आम, लखनऊ के बाज़ार में, पैसे के बदले में, अपने शरीर को बेचना पड़ता है!

ऐसे ही एक दिन मैं अपने एक मित्र के साथ घूम रहा था। मेरे मित्र को तो उस लड़के को देखकर वेश्या का भ्रम हो गया था। वास्तव में उसकी चाल-ढाल, उसके हाव-भाव और उसका चेहरा-मोहरा गणिका को भी मात करने-वाला था।

मेरे प्रश्न करने पर उसने फिर बतलाया—मेरे पिता बड़े आशिक-मिजाज थे। दादा-पड़दादा खूब कमाकर रख गये थे। पिताजी उनकी कमाई पर खूब मौज उड़ाते थे। रेशमी कपड़ों की अपनी दूकान थी। पिताजी, शराब के नशे में, जिसको सामने पा जाते थे, उसीके साथ प्राकृतिक और अप्राकृतिक कर्म कर डालते थे। उन्हींके संस्कार का मुझपर प्रभाव पड़ा। मैंने जब होश सम्हाला, तब पिताजी के भ्रष्टाचार का मैंने प्रतिवाद किया। उन्होंने मुझे घर से निकाल-बाहर किया। उस समय मेरी बारह वर्ष की उम्र थी। मैं कभी अकेले कहीं बाहर गया न था। जब रिश्ते-दारों के पास गया, तो वे पिताजी के कुकृत्यों के लिये मुझ-पर ही ताना मारने लगे। मैं उनके दरवाज़ों से ठोकर खाकर लौट आया। फिर दो-चार दिन तक इष्ट-मित्रों के यहाँ पेट-पूजा करता रहा। पर मुफ़्त में ग़ैर के लड़के को कोई क्यों

खिलाने लगा ? तब आखिर मैं करता क्या ? लाचार हो लखनऊ भाग आया। सोचा था, यह शहर बड़ा है, कहीं नौकरी कर लूँगा, आत्मीयों से दूर रहूँगा। किन्तु शहर-भर में पन्द्रह दिन तक दर-दर मारा फिरता रहा। किसीने कुछ आश्वासन नहीं दिया। किसीने मेरी दुःख-गाथा सुनने तक की कृपा नहीं की। लाचार हो मैंने निर्दय समाज के नरपशुओं के हाथों में अपनेको सौंप दिया। उन नर-पिशाचों में मुसलमान भी थे और हिन्दू भी।

वर्तमान समाज के ठीकेदार, वेश्याओं को सामाजिक पाप के खुले द्वार कहेंगे। यह भी कहेंगे कि समाज के लोगोंको सुख-स्वर्ग में पहुँचाने के लिये, सामाजिक पाप से मुक्त करने के लिये, समाज से पृथक् उनका अस्तित्व अत्यावश्यक है।

पर वे भूलते हैं, अब इन सड़े तथ्यों के दिन लद गये। गरीब और अमीर के श्रेणी-युद्ध के प्रभाव से कल जिन्हें दोनों वक्त खाने का ठिकाना था, आज उन्हें अपना शरीर और बाहुबल बेचना पड़ता है, साथ-ही-साथ उन्हें अपनी सुन्दरी स्त्रियों के स्त्रीत्व को भी बेचना पड़ता है ! आज कलकत्ते के सोनागाछी और रामबागान तथा काशी के

दालमंडी और कुन्दीगढ़टोले के बाज़ार में जो सौदे भरे रहते हैं, वे कहाँ से आते हैं ?—सभ्य समाज के उच्च कुलों से, पुरुषों के मायाजाल में फँसकर, और उनके नारकीय व्यवहार से ऊबकर !

मैंने जो सैकड़ों वेश्याओं के कोठों की खाक छानी और उनके हृदय की वेदनाओं को अपने कानों से सुना—अपने हृदय की तुला पर तौला, तो माल्ूम हुआ कि संसार से दासत्व दूर नहीं हुआ है, बल्कि परिमार्जित रूप में—व्यापक रूप से—फैला हुआ है ।

वेश्याओं का जीवन धोखेबाज़ी से भरा हुआ होता है सही; पर उन्हें वैसा बनाता कौन है ?—पैसे का लोभ, समाज की हृदय-हीनता और निर्मम प्रतिशोध का भाव ।

दो-चार वेश्याओं की रामकहानी उन्हींके शब्दों में कहे देता हूँ । एक का नाम पानकुँवर है, दूसरे का नाम ज्ञानदा । पहली ने बताया—

मैं अ—जाति की लड़की थी । मेरा पितृगृह यथेष्ट धनी था । मेरा विवाह भी बड़े सम्पन्न कुल में हुआ था । कहीं किसी बात का अभाव न था । स्वामी के साथ दो वर्ष भी न बीत पाये थे कि मेरे पतिदेव कालकवलित हो गये ।

मेरे शरीर में जब पूर्ण यौवन छलकने लगा, हृदय में वासनाएँ प्रबलतम होने लगीं, मन में नवीन आशा-आकांक्षाएँ हिलोरे लेने लगीं, तब मेरा सर्वस्व लुट गया। बहुत दिनों तक अपने स्वर्गीय स्वामी का चिंतन कर अपने मन को दबा रक्खा। पर एक बार की छेड़ी हुई वासना-सर्पिणी बार-बार मेरे हृदय में फुफकारने लगी। मेरे जेठजी के पुत्र मुझसे एकांत में हँसी-मजाक करते थे। कभी-कभी मेरा अङ्ग-स्पर्श भी कर लेते थे। पहले तो मैं कुछ दिन टालमटूल करती रही, पर अन्त में मेरे धैर्य का बाँध टूट गया। मेरे गर्भ-वती होने से ससुराल और मायके में हाय-तोबा मच गया। सब मेरे ऊपर थू-थू करने लगे।

चंद्र-ग्रहण का पर्व निकट था। ससुरजी ने मुझेकाशी जाने के लिये कहा। सासजी मेरे साथ चलीं। मुझे भय था कि सासजी मुझे धोखा देंगी; संदेह था कि मुझे काशी में छोड़कर चली आवेंगी। वही बात हुई। मेले की अपार भीड़ में सास-ससुर ने अवसर पाते ही मुझे छोड़ दिया। मैं सोकर उठी, तो कोई साथी नहीं, मैं एकदम अकेली! मेरे रूप के सौदागर आसपास मँड़रा रहे थे। शरीर मेरा दोहरा और अस्वस्थ था। मैं थक गई थी। धक्के में और

भी कष्ट हो रहा था। अपने भाग्य को कोसने लगी। मेरे पास क़रीब चार हज़ार का माल था। सास-ससुर ने गहने उतारने के लिये बहकाया था; पर मैं उनके मन के चोर को पहचानती थी। मुझे अपनी असहाय अवस्था अब अच्छी तरह समझ में आई।

मैं मुगलसराय में बैठे-बैठे बहुत देर तक चिंतासागर में डूबती-उतराती रही। कोई पथ सूझ नहीं पड़ता था। इतने में एक टिकट वाला बाबू मेरे पास आया। पूछने लगा—तुम कहाँ जाओगी?

मैंने जवाब दिया—बनारस।

टिकटबाबू ने कहा—वहाँ तुम्हारा कौन है?

मैं सम्भ्रान्त कुल की बधू थी, अकेली स्टेशन पर थी, इसी पर तो बाबू को संदेह हुआ था। उसने नम्रता-पूर्वक मीठी-मीठी बातें कहीं। बोला—तुम शरीफ घर की औरत मालूम पड़ती हो, हम स्टेशन के बाबू हैं। ऐसी अवस्था में संकोच न करो। कोई भय का कारण नहीं है। ठीक बताओ, तुम किसके यहाँ जाना चाहती हो?

उसकी चिकनी-चुपड़ी बातों में आकर मैं आप बीती सुना गई। मेरे पास एक चमड़े का बैग था, जिसमें मेरे ज़ेवर थे।

उसने कहा—तुम्हारे पास टिकट तो होगा ? और भी कुछ है ?

मैंने पहले प्रश्न का उत्तर दिया—जी हाँ, टिकट है ।

दूसरे प्रश्न का जवाब ही नहीं दिया । हिचकिचाहट हुई, पर वह ताड़ गया । उसकी सूरत-शक्ल देखकर मुझे भय होने लगा ।

वह कमरे के बाहर चला गया । थोड़ी देर में दो-चार कान्सटेबुलों को लेकर आया । बोला—यह स्त्री गर्भवती है । आप लोग इसे अपनी संरक्षकता में रखिये । फिर जैसा उचित समझा जायगा, किया जायगा ।

मैं मामूली पढ़ी-लिखी, पर्दे में रहनेवाली, स्त्री थी । क्या करती ? लाचार होकर उनके साथ गई । मुझे उनसे कुछ तनकर पूछने में डर लग रहा था । मैं देहाती स्त्री, स्टेशन की तड़क-भड़क देखकर और अपनेको एक नवीन संसार में अकेली पाकर, सहम-सी गई ।

उन लोगोंने मिल-जुलकर मेरे जेवरों को हड़प लिया । फिर मुझे एक बनारसी पंडे के हाथ बेच दिया, पर मैं उसके यहाँ से शीघ्र ही निकल भागी । शहर की सब बातों को मैं अच्छी तरह समझ गई थी ।

एक दिन मैं दर्शन करने के लिये एक मंदिर में गई। वहाँ एक बूढ़ी वेश्या ने मुझे परखा। मुझसे उसने बातें कीं। वह मुझ-जैसी हतभागिनी युवतियोंके शिकार में ही फिर रही थी। मेरे पास उस समय कानी कौड़ी भी न थी। मैंने लाचारी की हालत में उसके पास रहना स्वीकार किया।

आह! उस समय मेरी नस-नस में प्रतिक्रिया की आग धधक रही थी। मेरा मन बार-बार विद्रोही होकर कहता था—निगोड़े पुरुष कितने कृतघ्न होते हैं, केवल आँखों की आड़ में हो जानेसे निष्कलंक हो जाते हैं। और नारी? वह तो स्वार्थी पुरुषों के हथकड़े में पड़कर कितनी भारी जिम्मेदारी लेती है। इसके लिये निष्ठुर समाज को एकबार भी दया नहीं आती। अच्छा, अब इसका बदला लूंगी, उन्हें अपनी आँखों के इशारे पर नाच नचाऊँगी, उनका खून चूसूँगी।

अस्पताल में मेरे एक लड़का हुआ। मुझे बड़ी खुशी हुई। मैं उस बच्चे को देख-देखकर आत्मानंद में मग्न रहती थी। उसे चूमती थी, दूध पिलाती थी। उसीके साथ हँसती-खेलती थी। मेरा जीवन बिल्कुल नवीन हो गया।

वह चंद्रकला के समान दिन-दिन बढ़ रहा था। बड़ा

सुन्दर उसका मुखड़ा था। ज्योतिषी ने उसकी जन्म-कुंडली का फल भी बहुत अच्छा बताया।

जब वह आठ महीने का था, उसे चेचक निकल आई। वह इस संसार से उठ गया। मेरा जीवन हाहाकारमय हो गया। ईश्वर पर से विश्वास जाता रहा। केवल रह गई हृदय में दुर्दमनीय विद्रोह की ज्वाला, जिसमें मैं पुरुषों को जलाकर नरमेध-यज्ञ करना चाहती थी। नर-मेध का अग्नि-कुंड बन-कर पहले-पहल मैं एक भाड़े के मकान की खिड़की पर बैठी। वहाँ गाने का अभ्यास करना शुरू किया। एक उस्तादजी आने लगे। दलाल लोग भी मुझे अक्सर आकर घेरते थे। धीरे-धीरे नगर के धनी-मानी रईस, महन्त, म्युनिस्पल कमिश्नर, वकील, मुख्तार, शिक्षक, प्रोफेसर, विद्यार्थी, दारोगा, दूकान-दार आदि मेरे नयन-वाण से घायल होकर मेरे मकान की खिड़की के सामने दिन-रात मेरी मुस्कान की दवा चाहने लगे।

मैं शीघ्र ही किसीसे दैहिक संबंध स्थापित नहीं करती थी। जो अभागे बहुत हठ करते थे, उनके तन-मन-धन को खूब चूस भी लेती थी।

..

अब, एकांत में बैठकर अपने अतीत जीवन की याद करती हूँ, तो हृदय घृणा से भर उठता है। कुछ दिन पहले,

कभी-कभी यह इच्छा मन में जाग उठती थी कि अपने मन के अनुकूल किसी पुरुष के साथ विवाह कर लूँ और वेश्या का पेशा छोड़कर गृहस्थ बन जाऊँ, पर अब मेरा मन इतना अविश्वासी और इतना नीच हो गया है कि मुझे किसी पुरुष पर विश्वास ही नहीं होता। आन्तरिक क्षुधा के शान्त हो जाने से मेरी ही तरह सभी पतिताओं की यही इच्छा होती है।

क्या करें बेचारी पतिताएँ? पुरुष-मात्र भौंरे के सदृश उनके सौन्दर्य-पुष्प का सौरभ लूटना चाहते हैं! मैंने भी पुरुषों की प्रकृति को समझकर उन्हें लूटने में ही अपनी चालाकी समझी।

वेश्या के हृदयोद्यान के किसी निभृत निकुञ्ज में भी सरल प्रेम अठखेलियाँ करता रहता है! पर वे लाचार हैं समाज की विष-दृष्टि से। यदि वे प्रेम प्रकट करें तो उनके संसर्गवाले लम्पट पुरुष उनके धन पर हाथ साफ कर बैठें। उनका जीवन हाहाकारमय है। उन्हें हर घड़ी अपने प्राण का खटका लगा रहता है।

इसके बाद दूसरी ने अपनी कहानी शुरू की—

ज्ञानदा मेरा नाम है। मैं बंगालिन हूँ। मैंने इस बात का वेश्या-जीवन में मार्मिक अनुभव किया है कि

वर्त्तमान समाज के जो ठीकेदार व्यभिचार के नाम से नाक-भौं सिकोड़ते हैं—सत्यनारायण और पुराण आदि की कथा सुनने का ढोंग रचते हैं, उनमें से निन्नानबे फ़ीसदो नर-रूप में पशु होते हैं। जो धर्म-कर्म करने का अधिक ढकोसला रचते हैं, वे ही अधिक वेश्यागमन—परदार-गमन आदि करते हैं। वे समाज के आदर्श नेता हैं! वे ही जब दूसरों की स्त्रियों पर आँख गड़ाये रहते हैं, बगुला-भगत बने फिरते हैं—तब बेचारे अज्ञानी चमार, भंगी, मुसलमान आदि उनका अनुकरण करते हैं, तो इसमें उनका क्या दोष है?

मैं तो देखा करती हूँ कि बड़े-बड़े दानी सेठ-साहूकार, लेकचरार, पंडित और सुधारक भी लुक-छिपकर अपनी कुवासना की खाज मिटाते हैं। उन्हींकी कृपा के फल-स्वरूप प्रायः सारे संसार में रूप की हाट लगती है। पूँजीपति समाज ने ही संपत्तिहीन समाज की स्त्रियों को अपनी तृष्णा बुझाने के लिये तड़ाग बनाकर रख छोड़ा है। आपको सुनकर आश्चर्य होगा कि वे गरीबों की स्त्रियाँ चार-चार छः-छः पैसे में अपने शरीर को बेचने के लिये बाध्य होती हैं! यह सतीत्व की पुण्य-भूमि भारत की नारियों की अवस्था है!

मैंने कहा—वे केवल गरीब ही नहीं होतीं, स्वयं व्यभिचारिणी भी होती हैं।

ज्ञानदा ने उत्तेजित होकर जवाब दिया—क्या आप समझते हैं कि सोनागाछी और रामबागान की वेश्याएँ खुशी से अपने शरीर को बेचती हैं? क्या पुरुष पेट के लिये दस दरवाजे ठोकर खाना पसंद करते हैं?

मैंने कहा—कभी नहीं। पैसे के लिये, पेट के लिये, शरीर को बेचना सचमुच ही मनुष्यत्व का कलंक है।

उसने कहा—केवल शरीर ही नहीं, आत्मा तक को बेचना पड़ता है।

कुछ देर तक चुप रहकर ज्ञानदा अपने मन में गुन-गुनाने लगी। फिर हारमोनियम पर गाने लगी—

पहनकर घर बैठो, आसमानी चूड़ियाँ।
धीरज धर देखो, तोड़तीं हम बेड़ियाँ॥

मैंने कहा—भई! वाह! खूब गाया! अच्छा, यह तो बताओ, यह गाना तुमने सीखा कहाँ से?

उसने कहा—क्यों, आजकल ऐसे गानों की कमी क्या है? नारी-जागरण के दिन हैं! युग-युगांतर के बाद अब अबलाएँ भी सबला बनने की चेष्टा करने लग गई हैं। पुरुषों ने

उनपर बहुत अत्याचार किया है। कहीं उसीकी प्रतिक्रिया के भाव देख पड़ते हैं और कहीं तो सचमुच ही उनमें स्वाधीनता की आकांक्षा जाग उठी है। वेश्याएँ सबसे अधिक प्रतिक्रिया-शील होती हैं। इसीसे साधारणतया पुरुष उन्हें नरक के कीड़े आदि कहा करते हैं; पर वे यह नहीं सोचते कि वे आखिरकार ऐसी होती क्यों हैं? मनुष्य जैसी परिस्थिति में लालित-पालित होता है वैसी ही उसकी बुद्धि, इच्छा तथा आकांक्षाएँ भी होती हैं! वेश्याएँ भी इस नियम का अपवाद नहीं हैं।

मैंने पूछा—तो फिर क्या वेश्या-प्रथा का उठ जाना सम्भव है?

उसने कहा—वेश्याप्रथा का उठ जाना और वर्तमान समाज की नींव उलट देना बराबर है। वेश्याप्रथा उतनी ही पुरानी है, जितने पुराने 'अमीर' और 'गरीब' शब्द हैं। हमारे सत्ययुग में भी वेश्याएँ थीं।

मैंने पूछा—क्या सत्ययुग और कलियुग में कोई भिन्नता ही नहीं है? आप यही कहना चाहती हैं?

उसने शांत भाव से जवाब दिया—अरे कलियुग और सत्ययुग तो केवल पाखंड हैं! कौन नहीं जानता कि युग-

युगान्तर से नारियों पर अत्याचार किये गये हैं ? पर हिन्दू-समाज के आदर्शवादी लोग तो शास्त्रों के श्लोकों के सहारे उनका समर्थन करना जानते हैं ! कहते हैं कि नारियों को सदा डाँट-डपटकर, लाल-लाल आँखें दिखाकर रखना चाहिये, नहीं तो जाति, कुल और धर्म—सबके सर्वनाश हो जाने की सम्भावना रहती है ।

मैंने पूछा—आपका यही कथन है न कि नारियोंको स्वतंत्रता मिल जाने से वेश्याप्रथा उठ जायगी ?

उसने जवाब दिया—केवल कोरी स्वतन्त्रता ही नहीं, आर्थिक स्वतन्त्रता मुख्य वस्तु है । वेश्याप्रथा के मर्मज्ञों का कथन है कि यद्यपि वेश्याप्रथा सभी युग में थी, तथापि उन्नीसवीं सदी से वह अत्यन्त भयङ्कर हो गई है । इङ्गलैंड में तृतीय जार्ज के समय में घोर व्यावसायिक विप्लव हुआ था, जिससे वहाँ कपड़े तथा लोहे के व्यवसाय की उन्नति हुई । इसी समय के लगभग योरप और अन्य देशों में भी कल-कारखानों के आविष्कार हुए । फिर थोड़े ही दिनों में बड़े-बड़े यन्त्र बन गये, जिससे विशेषतः योरप के देशों में यांत्रिक व्यवसाय फैल गये । फिर गाँवों से गरीब स्त्री-पुरुष मजदूर बड़े-बड़े शहरों में मजदूरी के लिये आने लगे । जब-

जब मिल-मालिकों को अपने काम के लिये ज़रूरत पड़ती थी, तब-तब वे उन्हें रखते थे और फिर काम निकल जाने पर दूध की मक्खी की तरह उन्हें निकाल फेंकते थे। इससे बेकारों का ताँता बँधने लगा। पुरुष मजदूर तो किसी प्रकार से अपने को कम-से-कम मज़दूरी का दास बनाकर रोटी कमा लेते थे; पर ग़रीब स्त्रियों को अपना शरीर बेचने के सिवा और कोई प्रशस्त पथ नहीं था। अभी भारत में, संसार के अन्य देशों की तरह, यांत्रिक व्यवसाय नहीं फैला है। यद्यपि बंबई, कलकत्ता, कानपुर, अहमदाबाद, सूरत आदि शहरों में काफ़ी कारख़ाने खुले हुए हैं, तथापि यहाँ आवश्यकता की सभी चीज़ें नहीं बन पातीं। अभी तो भारत-भर के मनुष्यों के लिए पर्याप्त कपड़े ही हिन्दोस्तान के देशी मिलों में नहीं बनते; पर स्वदेशी-प्रचार के बढ़ते हुए वेग के कारण यह अभाव शीघ्र ही दूर हो जायगा। किन्तु भारत में तो यांत्रिक व्यवसाय फैलने के पूर्व ही ग़रीब स्त्रियों के शरीर बेचने का भयंकर दृश्य देखकर रोंगटे खड़े हो जाते हैं—सिर में चक्कर आने लगता है। योरप और अमेरिका में तो मज़दूरों की बेकारी बढ़ ही रही है, जिससे अनेक स्त्री-पुरुषों को अन्न-वस्त्र के लाले पड़ रहे हैं; पर

उन स्वतन्त्र देशों की सरकार अपनी बेकार प्रजा के भरण-पोषण के लिये इतनी ज़िम्मेदार है कि भारत में बेकारी के कारण जितनी अधिक दुर्घटनाएँ होती हैं, उतनी वहाँ नहीं होतीं। भारत में यह प्रायः देखने में आता है कि स्त्री-मजदूरों को जीवन-निर्वाह के उपयुक्त पर्याप्त मज़दूरी नहीं मिलती, जिसके फलस्वरूप उनको शहरों में रहकर अपनी आवश्यकता की पूर्त्ति के लिए अपने शरीर को बेचने के सिवा दूसरा रास्ता नहीं सूझता।

मैंने बीच ही में उसे रोककर बड़े आवेश के साथ पूछा—यह प्रश्न कैसे हल हो सकता है?

उसने कहा—यह युग ऐसा है कि मनुष्य यदि अपनी असीम आन्तरिक क्षमता का सदुपयोग करे, तो असंभव को भी संभव कर सकता है—राजा को रंक कर सकता है—अहंकारियों को धूल में मिला सकता है—पाखंडियों का सर्वनाश कर सकता है। सारे संसार से एक-न-एक दिन नारी-जाति का कलंक—वेश्या-प्रथा उठ जायगी—अवश्य उठ जायगी। पर अभी विलम्ब है। इस प्रथा का नाश तभी हो सकता है, जब देश की पूँजी पर निर्धनों और दलितों का अधिकार हो जाय—बेकारी समूल नष्ट हो जाय।

मैंने प्रश्न किया—क्या वेश्याप्रथा के नाश से मनुष्य-समाज का कल्याण हो सकता है ?

उसने कहा—क्यों नहीं ? यदि सृष्टिकर्त्ता की सृष्टि में साँप ऐसे भयंकर जीव से भी संसार का कल्याण होता है, तो मनुष्य की आकृति और बुद्धि रखनेवाली वेश्याओं से क्यों नहीं उपकार हो सकता ? केवल पुरुषों ने उन्हें शरीर बेचने के लिये बाध्य कर दिया है। सच्ची स्वतंत्रता मिलने पर समाज के बहुत-से कामों में उनकी आवश्यकता पड़ेगी। अभी भारत में बैठकर ऐसी बातें करना तो केवल उन्मत्तप्रलाप के समान है।

मैंने पूछा—क्या वेश्याप्रथा के उठ जाने से मनुष्य-समाज में व्यभिचार की मात्रा न बढ़ जायगी ?

ज्ञानदा ने व्यंग की हँसी हँसते हुए जवाब दिया—मालूम पड़ता है कि अभी सदाचार का राज्य है ! धर्म-ध्वजियों के कपोल-कल्पित स्वर्ग में अभी तक सदाचार की बढ़ती है क्या ?

मैंने गंभीर भाव से ज्ञानदा की बातों को मन में तौला, और इस नतीजे पर पहुँचा कि वर्तमान पूँजीपति समाज में जो घोर अमानुषिक अत्याचार फैला हुआ है,

जब तक उसका समूल नाश नहीं होता, इस समाज का आमूल परिवर्तन नहीं होता, तब तक मनुष्य पशु से भी निकृष्ट और अधम जीव बने रहेंगे।

ज्ञानदा को इस तरह की बातें करने में आनंद मिल रहा था। उसके चेहरे से यह स्पष्ट मालूम पड़ता था कि उसके हृदय का एक भारी बोझ मानों हल्का हो रहा है।

उसने फिर कहना शुरू किया—हम लोगों ने सन् १९२२ के राष्ट्रीय आन्दोलन में बंगाल की वेश्याओं का एक दल संगठित किया था। देशबंधु दास की यथासाध्य सहायता की थी। इसके लिये उन्हें लकीरपंथियों से बहुत कुछ सुनना पड़ा था।

मैंने कहा—आप लोगों के प्रति देश के शिक्षित मंडली की सहानुभूति तो होगी ?

ज्ञानदा ने इस प्रश्न का उत्तर बड़े ही उत्तेजित स्वर में दिया—उनका हृदय हमारे लिये क्यों पसीजने लगा ? वे धनी समाज के कुल-प्रदीप हमारी श्रेणी के अस्तित्व को भी रहने देना नहीं चाहते हैं !

इतना कहकर वह कुछ रुक-सी गई। फिर बोली—बंगाल-भ्रमण करते समय बारिसाल की वेश्याओं ने महात्मा

गांधी को अपनी समिति में निमंत्रित किया था, पर पतिताओं के निकट जाने में उन्होंने इनकार किया था। अतः कांग्रेस के स्वराज्य से हमको कुछ लाभ नहीं हो सकता। हाँ, पेशावर में कई बार वेश्याओं के घर पर पिकेटिंग हो चुकी है। कई बार कौंसिल में वेश्या-प्रथा दूर कर देने के लिए बिल पेश हो चुके हैं। पर हमको सब बहिष्कृत समझते हैं। हमें भी तो भूख-प्यास लगती है? हमारे जीवन-यापन के लिये भी तो कोई उत्तम रास्ता होना चाहिये?

मैंने कहा—क्यों नहीं, स्वराज्य मिलने पर प्रत्येक भारतवासी को सुख-सुविधा मिलेगी।

ज्ञानदा ने व्यङ्ग की हँसी हँसते हुए जवाब दिया—क्यों नहीं! क्या इंगलैंड, अमेरिका, फ्रांस, चीन, जापान आदि देशों में वेश्या-प्रथा उठाई जा सकी? वे तो स्वाधीन राष्ट्र हैं!

मैंने उदासीन भाव से कहा—भारत के नेता बड़े विचारशील हैं, वे तुम्हारे लिये कुछ-न-कुछ उपाय अवश्य ढूँढ़ निकालेंगे।

ज्ञानदा ने स्पष्ट जवाब दिया—भारत ही की तरह चीन भी एक निर्धन देश है। वहाँ स्वतन्त्रता के पुजारी

सन-यात-सेन ग़रीबों के लिये साम्यवादी राष्ट्र प्रतिष्ठित करना चाहते थे। परन्तु उनकी अकाल मृत्यु के बाद चीन के मन्त्री ने ग़रीबों के स्वार्थों को ठुकरा कर राष्ट्रवादी राज्य स्थापित किया। वहाँ आज साम्यवादियों को फाँसी पर लटका दिया जाता है। क्या भारत में ऐसे मन्त्रियों का अभाव होगा?

मैंने उत्सुकतापूर्वक पूछा—तब कैसे तुम लोगों का उद्धार हो सकता है?

उसने जवाब दिया—हमारा उद्धार तभी हो सकता है, जब स्त्रियों को पुरुषों की तरह आर्थिक स्वतंत्रता मिल जाय, समाज साम्यवादी हो जाय। अभी वेश्या-वहिष्कार करने के सिद्धांत और आदर्श का परिणाम बड़ा ही भयंकर होगा।

ग्यारहवाँ परिच्छेद

एक दिन मैं कन्हैयालाल के मकान की छत पर बैठा हुआ था। वहाँ उसीके सामनेवाला मकान खूब अच्छी तरह दिखता था। एक कोठरी में एक नवयुवती चुपचाप उदास बैठी हुई थी। उसके चेहरे पर अस्फुट वेदना की छाप पड़ी हुई थी। थोड़ी देर में एक पुरुष आया, तो वह मुख विकृत कर धीरे से बोली—"अभी बारह बजे आ रहे हो खाने! कल ही से चिल्ला रही हूँ कि घर में कोयला, चावल, आटा, सब कुछ चुक गया है। घर में फूटी कौड़ी भी तो नहीं रख छोड़ते कि कुछ मौक़े-बेमौक़े घटे-बढ़े तो शिवनाथ से मँगवा लिया करूँ!"

इतना कहकर कुसुम चुप हो गई, पर उसकी बड़ी-बड़ी आँखों से दो बूँद आँसू टपक पड़े।

क्या करूँ? तुम नहीं जानती 'कुसुम'! मैं सबेरे से ही भागा-भागा फिरता हूँ। मकान का छः छः महीने का किराया बाक़ी पड़ गया है। मालकिन कहीं तक़ाज़ा न कर बैठे, इसीसे उससे मुँह छिपाने के लिये भोर ही से घर से निकल जाता हूँ।

मैं उनकी बातचीत में अपने मतलब का मसाला पाने लगा, तो ओसारे में खिसककर आया और कान लगाकर सुनने लगा।

आखिर घर का किराया तो देना ही पड़ेगा, आज न दो, दो रोज बाद ही सही—इतना कुसुम ने कहा।

वे दोनों कुछ देर तक चुप रहे। फिर पार्वतीचरण घोष, घर के सन्नाटे को भङ्ग करता हुआ, बोला—कुसुम! तुम तो जानती ही हो कि इस समय मेरे पास केवल दस रुपये का एक ट्यूशन है। वहाँ से भी महीना बीत जाने के दस-बारह दिन बाद रुपये मिलते हैं। तुम्हीं बताओ न, इन दस रुपयों से हमारा होता ही क्या है? तीन प्राणी के खाने-पहनने ही में सब ख़र्च हो जाता है! किराये के रुपये कैसे आवेंगे?

पार्वतीचरण इतना कहकर, सिर नीचा कर, उदास भाव से, पृथ्वी की ओर देखने लगा। फिर यकायक उत्सुक होकर पूछा—शिवनाथ, क्या भूखा काम करने गया है?

नहीं, एक बासी रोटी थी, उसीको खाकर......

भला, भला, कुछ पेट में तो पड़ गया। मेरा नन्हा शिवनाथ बड़ा भोला है—सचमुच भोला है। हे भगवन्!

हम उसे सुखी न बना सके ! तू ही सबका परमपिता है, तू ही उसे सुखी बना दे—यही मेरी एकमात्र प्रार्थना है।

इतना कहते-कहते पार्वतीचरण सिसक-सिसक रोने लगा। कुसुम, अपने स्वामी के मस्तक को अपने अंक में लेकर, आँसू पोंछते हुए बोली—नाथ ! घबड़ाओ नहीं, ईश्वर हमारी सहायता करेंगे।

पार्वतीचरण प्रकृतिस्थ होकर बोला—अच्छा तो खाने के लिये इस वक्त कुछ चने ही भुनवा लाऊँ।

इसके बाद वह धीरे से एक अँगोछा लेकर घर से निकल पड़ा। मैंने देखा कि घर से उसके निकलते ही मकान की मालकिन आ धमकी; तनकर खड़ी हो कहने लगी—अरे क्यों मास्टर साहब ! कहाँ गये ? अभी तो थे !

कुसुम ने बड़े आदर से उसे बैठने के लिये आसन दिया, पर वह न बैठी। बोली—देखो बहू ! किराये के रुपये पर ही हम गुज़र करती हैं। हमको ठीक वक्त पर किराया न मिलने से बड़ी तकलीफ़ होती है। एक-आध महीने का बक़ाया हो, तो कोई बात नहीं; छः छः महीने से किराया बाक़ी पड़ा हुआ है। एक ही दफ़े सब चुकाने

में तुम्हीं को अखरेगा। इसलिये बेटी, मास्टर आवें तो कह देना कि मालकिन...........

इसी समय पार्वतीचरण भुने दाने लेकर लौट आया। मालकिन के सामने बेचारा सिर नीचा कर खड़ा हो गया, भूख हवा हो गई !

उसे देखकर मालकिन का हृदय भी दयार्द्र हुआ; पर अपने रुपये वसूल करने के लिये वह बोली—क्यों मास्टर, किराया कब दोगे ? हम इस तरह से अपने मकान में नहीं रहने दे सकतीं।

पार्वतीचरण हाथ जोड़कर गिड़गिड़ाता हुआ बोला—दस-पाँच रोज़ और सब्र कीजिये। इस बार मैं ज़रूर सब चुका दूँगा।

मालकिन ने डपटकर कहा—इस तरह हीले-हवाले करते तो छः छः महीने बीत चुके। अब कब तक सब्र करें ?

इतना कहकर मालकिन भनकती हुई चली गई।

दोनों स्त्री-पुरुष ने कुछ दाने मुँह में डाल कर, तत्ते तवे पर छौंक-बघार पड़ने की तरह, पेट की भूख को और जगा दिया। दाने की कमी पानी पीकर पूरी कर ली !

इधर शिवनाथ, प्रेस से घर लौटकर, अपनी माँ से

रोते-रोते कहने लगा—आज प्रेस में मैं एक कोने में बैठकर चुपचाप कम्पोज़ कर रहा था। इतने में भूदेव नाम का एक बीस-बाईस वर्ष का युवक कम्पोजिटर आया, मुझे ज़ोर से चपत मारकर कहने लगा—"क्यों रे, मनहूस की तरह बैठकर इतना धीरे-धीरे क्यों कम्पोज़ करता है?" मैं फिर सीधे दौड़ा मैनेजर के पास गया—कहा कि देखिये साहब, भूदेव ने मुझे फजूल ही बड़े जोर की चपत मारी है। मैनेजर ने उदासीनता से कह दिया—अच्छा जाओ, उसको हम डपट देंगे। मैं अपना-सा मुँह लेकर चला आया। भूदेव से किसीने कुछ नहीं कहा। इससे वह अब और भी ढीठ हो गया। वह प्रेस का पुराना कम्पोजिटर है। पर वह अपनेको असिस्टेंट मैनेजर ही समझता है।

पुत्र की विवशता पर माँ का हृदय पसीज गया। रो-कलप कर रह गई। कुछ कह न सकी।

माता के आँसुओं से शिवनाथ को कुछ सांत्वना हुई। वह अपने दुःख और अपमान को भूल गया!

कुसुम अपने पति के आलस्य को कोसती हुई कहने लगी—बार-बार मैं कुछ छोटा-मोटा रोज़गार करने के लिये कहा करती हूँ, पर उन्हें अपनी कुलीनता के खयाल से कुछ

करते नहीं बनता। क्या कुलीन को छोटा-मोटा रोजगार नहीं करना चाहिये ? ईमानदारी से पेट के लिये कोई भी धन्धा करना बुरा नहीं है। भला ट्यूशन से कैसे दिन कटेंगे ! यह तो ऐसी अनिश्चित नौकरी है कि इसका कोई भरोसा नहीं।

पार्वतीचरण कलकत्ते के एक सम्पन्न कायस्थ-कुल का वंशज था। पहले का ज़मींदार था। जमीन-जायदाद, नौकर-चाकर, सब कुछ था, किसी बात का अभाव न था। वंश-परम्परा से शरद ऋतु में दुर्गापूजा होती चली आती थी। उसके बाप-दादे पूजा के उपलक्ष में मुक्त-हस्त हो रुपये खर्च करते थे, स्वजनों को नई-नई धोतियाँ बाँटते थे, खूब खिलाते-पिलाते थे।

एक बार फ़सल न हुई। देश में दुर्भिक्ष पड़ा। दुर्गा-पूजा का समय निकट था। वह बड़े असमञ्जस में पड़ गया। लोगों की चाटुकारिता में पड़कर परम्परागत वंश-मर्यादा की रक्षा के लिये कुल-रीत्यनुसार खूब खर्च किया। ऋण लेकर जगदम्बा की पूजा की। मारवाड़ी महाजन के रुपये बाक़ी पड़ गये। ज़मींदारी नीलाम हो गई। आज यह अवस्था है कि एक छोटे परिवार का भरण-पोषण तक नहीं होता!

पार्वती बाबू को कलकत्ते के गण्यमान्य बहुतेरे व्यक्ति पहचानते थे। वह किसीके निकट जाकर गिड़गिड़ाने में धँस-से

जाते थे। इसलिये कुसुम को लाचार होकर, दूसरे दिन शिवनाथ को अपने साथ लेकर, प्रेस के मालिक अन्नदा बाबू के घर पर जाना पड़ा।

अन्नदा बाबू ने मुस्कुराते हुए कहा—देखो, तुम्हें दुखिया समझकर ही मैंने तुम्हें मुलाक़ात का मौक़ा दिया है, नहीं तो मेरे पास इतना समय कहाँ है। सबेरे से कितने ही आदमियों को धत्ता बताया, लेकिन तुम्हारा संवाद मिलने पर मैं समझ गया था कि सिवा किसी दुखिया के इस परिस्थिति में कोई भद्र स्त्री मुलाक़ात करने क्यों आयेगी।

कुसुम ने सिर झुकाकर जवाब दिया—हाँ हुजूर! मेरा मन कहता था कि आप अवश्य दयालु पुरुष होंगे, मेरे दुखड़े को ध्यानपूर्वक सुनेंगे और मेरा उपकार भी करेंगे।

अन्नदा बाबू-कोई संकोच न करो, अपना सारा दुखड़ा कह डालो। मैं सुनूँगा और जहाँ तक हो सकेगा, पूरी मदद करूँगा।

कुसुम ने सरल-भाव से सब कह सुनाया।

अन्नदा बाबू की दया वैसी ही थी, जैसी बकरी पर भेड़िया की। एकांत में एक सुन्दरी को पाकर कब छोड़नेवाले थे—

"ख़ुद फँसी फंदे में बुलबुल क्या ख़ता सैयाद का
सुर्ख़ मछली बनकर तैरेगी छुरी जल्लाद की"

उन्होंने कहा—कोई चिन्ता न करो। हम उस कम्पोज़िटर को डाँटेंगे। तुम्हारे लड़के को किसी तरह का कष्ट न होगा। लो ये, बीस रुपये घर का भाड़ा चुका दो।

फिर उन्होंने नौकर को बुलाकर कहा—इस लड़के को अन्दर ले जाकर खिला दो।

शिवनाथ की ओर फिर मुहँ करके बड़े प्यार से कहा—दिन बहुत चढ़ गया है। बेटा, जाकर थोड़ा खा लो, यहीं से खाकर प्रेस चला जाना। मैं भी शीघ्र ही जाता हूँ।

नौकर बेचारे शिवनाथ को भीतर लिवा गया।

कुसुम को अन्नदा बाबू का मतलब अब स्पष्ट रूप से समझ में आया। मन मे सोचने लगी—इन बीस रुपयों में से अठारह रुपये तो किराये ही में लग जायँगे, और दो रुपये में अन्यान्य घरेलू खर्च के लिये बच जायँगे।

अन्नदा बाबू समाज में कर्तव्यनिष्ठ और धर्मनिष्ठ पुरुष समझे जाते थे! वह जाति के वैश्य थे। उनकी काली करतूत का और कुसुम की आप-बीती का पता मुझे एक दिन चोरबागान के एक प्राइवेट-हाउस में लगा!

बारहवाँ परिच्छेद

कुसुम की दयनीय दशा मैंने देखी। मुझे तरस आया। मैं करीब एक सप्ताह कलकत्ते में रहकर काशी लौट आया।

एक दिन प्रातःकाल रिमझिम पानी बरस रहा था। बरसात के दिन थे। मैं गंगा-स्नान करने के लिये जा रहा था। यकायक रास्ते में कुसुम से भेंट हुई—विधवा-वेष में! मैं चुपचाप कुछ देर तक उसके सामने खड़ा रहा। फिर वह बोली—कहिये मुन्नी बाबू, अच्छी तरह तो हैं?

मैंने कहा—मैं जो हूँ सो हूँ, पहले तुम अपना तो कुशल-क्षेम कहो। यह कैसा वेष?

उसने उदास मन से सिर नीचा कर जवाब दिया—आप तो जानते ही हैं कि दारुण दारिद्र्य से पीड़ित होकर मैं प्राइवेट हाउसों में जाया करती थी—पैसे कमाने के लिये—केवल अपने व्यक्तिगत स्वार्थ के लिये नहीं, वरन् अपने स्वामी और पुत्र ही को कष्ट से उबारने के लिये।

मैं—हाँ-हाँ, तो क्या किसीको पता लग गया?

वह—हाँ, मेरे स्वामी के मित्र से वहाँ एक बार भेंट हुई। वह घर का धनी था। पहले जब हमारे अच्छे दिन थे, तब

अक्सर हमारे यहाँ आया-जाया करता था। उसने मुझसे दो-चार बातें कीं। मैंने उसका पैर पकड़कर अर्ज किया कि मेरी रिश्तेदारी में कहीं मेरी इस विपन्न दशा की बात भूल से भी न कहना। पर वह क्यों मेरे अनुरोध को मानने लगा! मेरे बुरे दिन थे, मेरे स्वामी का अपमान करने में उसे आनंद मिलता था। उसने दस परिचित आदमियों के सामने मेरे स्वामी की हँसी उड़ाई। स्वामी उसी दिन बाहर से लौटकर आये थे। उन्होंने चुपचाप आत्महत्या कर ली।

मैं चुपचाप कुछ क्षण तक कुसुम के मुख को देखता रहा। कुछ बोल न सका।

गरीबी का क्या भीषण परिणाम था! एक संसार के निर्मम घात-प्रतिघात से मुक्ति पा गया और अब दूसरा उसका जीवन-भर फल भोगे।

मैंने पूछा—काशी में कब आई? क्या करती हो आजकल?

उसने कहा—क्या बताऊँ? अब तो पहले से भी दूना-चौगुना घृणित जीवन व्यतीत करती हूँ।

मैंने आवेश में आकर पूछा—तो क्या वेश्या हो गई हो?

उसने कहा—नहीं।

मैंने पूछा—फिर क्या ?

एक बार इधर-उधर देखकर धीरे से बोली—आज-कल औरतों का व्यवसाय करती हूँ।

मैंने पूछा—तो क्या आजकल तुमने प्राइवेट हाउस खोल रक्खा है ?

उसने कुछ मुस्कराकर कहा—अजी नहीं, मैं औरतों को पंजाब चालान करती हूँ।

मैं—इस रोजगार में काफ़ी नफ़ा हो जाता है ?

वह—हाँ-हाँ, नहीं तो क्यों अपने जीवन को कलुषित करती ?

मैं—कैसी औरतों का चालान करती हो ?

वह—अधिकतर विधवाओं का—विशेषतया बंगालिनों का। यहाँ मैं कलकत्ते से कुछ ही दिनों के लिये आई हूँ। एक महीना रहकर चली जाऊँगी।

मैं—तुम्हारे साथ और भी कोई आया है ?

वह—और तो कोई नहीं। केवल मेरा लड़का है।

मैं—ठहरी कहाँ हो ?

वह—यहाँ सनातन-धर्म-परिषद् नामक एक संस्था है।

वहाँ मेरी ही ऐसी स्त्रियों के द्वारा बहुत-सी भूली-भटकी विधवाएँ आश्रय और रक्षा पाती हैं।

मैं—उस परिषद् के संचालक कौन हैं ?

वह—एक बड़े मठाधीश हैं। वह स्वयं संस्कृत के बड़े विद्वान् हैं। उनके दो-तीन बड़े प्रभावशाली शिष्य भी हैं। राजा-रईसों से क़ाफ़ी चंदा आता है। महंतजी बड़े आराम और ठाट-बाट से रहते हैं। बहुत-सी विधवाओं को अपनी सेवा में रखते हैं। कई रानियाँ भी उनकी चेली हैं। रानियाँ और सेठानियाँ उन्हें ऋषि-तुल्य मानती हैं।

मैं—तो क्या तुम भी महंतजी की चेलिन हो ?

उसने सिर के कपड़े को खिसकाते और थोड़ा मुस्कुराते हुए जवाब दिया—अजी नहीं, जब से मैंने यह पेशा अख्तियार किया है तब से मेरा प्रधान ध्येय ही है किसी तरह ऐसे जीवों से माल हथियाना और फिर ज़िन्दगी आराम से काटना। मैं अब पुरुषों की नाक काटकर उनसे पैसे वसूल करती हूँ। जब वे मेरी मुँहमाँगी रक़म देने में हिचकिचाते हैं, तो उन्हें मैं डराती हूँ—कहती हूँ, देखो, सीधी तरह वादे के रुपये दे दो, नहीं तो मैं तुम्हारी पोल खोल दूँगी। बस, वे बेचारे सिटपिटाकर रुपये

दे ही देते हैं। इन कई महीनों में मैंने दो हज़ार रुपये ऐंठ लिये हैं।

अब मुझे उस परिषद् के असली रहस्य का पता लगाने की उत्कट इच्छा हुई। मैंने कुसुम से कहा—अच्छा, तो क्या मैं तुमसे तुम्हारे निवास-स्थान पर भेंट कर सकता हूँ? कोई आपत्ति तो नहीं है?

उसने खुले दिल से कहा—आप खुशी के साथ आ सकते हैं। यदि कोई वहाँ पूछे कि आप किसको खोज रहे हैं—किस लिये आये हैं, तो मेरा नाम बताइयेगा और कह दीजियेगा कि वह कलकत्ते में मेरी पड़ोसिन हैं।

मैंने वहाँ जाना स्वीकार कर लिया।
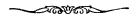
तेरहवाँ परिच्छेद

उसी दिन शाम को मैं वहाँ जा धमका। मैंने महंतजी से भेंट की। वह दो विधवा चेलियों से शरीर-मर्दन करवा रहे थे। कोठी के सामने दालान थी। दालान ही के सामने सुन्दर वाटिका थी। चंपा, जूही, चमेली के पुष्प उसकी शोभा बढ़ा रहे थे। सारी बाटिका उनके सौरभ से गमक रही थी। बीच में एक कुआँ था। उसीके पास बैठने के लिये पत्थर के चौपहले थे। भवन भी सुन्दर था—अत्यंत प्रशस्त और स्वच्छ था। बहुत से विद्यार्थी भी विद्याभ्यास करते थे। कुछ देवियाँ ऐसी भी थीं, जो अनपढ़ी विधवाओं को पढ़ाती देख पड़ीं।

महंतजी ने बैठने के लिये कहा—मैं बैठ गया। बातचीत होने लगी। उन्होंने मुझसे पूछा—यहाँ किस लिये आये हो?

मैंने बताया—कुसुम से भेंट करने के लिये।

वह झट उठ खड़े हुए। व्याकुलभाव से मेरी ओर देखने लगे। मैं किंकर्तव्य-विमूढ़-सा होकर उनकी ओर देखता रहा।

कुछ देर के बाद मैंने पूछा—क्या हुआ स्वामीजी, आप तो घबड़ाये-से मालूम पड़ते हैं।

उन्हों ने कहा—कुसुम से आपका परिचय कैसे हुआ ?

मैंने जवाब दिया—उससे मेरा बहुत पुराना परिचय है।

स्वामीजी पहले प्रकृतिस्थ हुए और फिर कुछ चिंतित भाव से कहने लगे—अच्छा, आप कुसुम से भेंट करके फिर मुझ से मिलियेगा।

मैं मन-ही-मन सोचता था—आख़िर बात क्या है, अवश्य ही कोई गंभीर-रहस्य है।

कुसुम आई। वह मुझे अपनी कोठरी में ले गई। उसका लड़का मुझे एक टक देखने लगा। वह दस वर्ष का बालक था। उसका मुँह चूमकर गोद में उठाया तो वह निर्भीक-भाव से पूछने लगा—आप इतने दिनों तक कहाँ थे?

मैं दंग रह गया। मैंने पहले कभी उस बालक से देखा-देखी या बातचीत नहीं की थी और न मैं कुसुम के कलकत्तेवाले मकान में गया ही था।

मैं बहुत देर तक सोचता रहा कि इस लड़के ने मुझसे परिचित की तरह कैसे प्रश्न किया।

थोड़ी देर के बाद मुझे बात याद आई। तब मैंने हँसकर जवाब दिया—हाँ बेटा, मैं कलकत्ते से पहले ही यहाँ चला आया था। वहीं रहता था। आजकल यहीं हूँ।

कुसुम चुपचाप पान लगा रही थी।

मेरी ओर देख भी रही थी। पान का बीड़ा मुझे दिया और लड़के से कहा—बेटा, अब गोद से उतर जा। अपने चाचा से ज़रा बातचीत करने दे।

वह हँस पड़ा। उसने मेरी गर्दन को अपनी छोटी-छोटी बाँहों से पकड़ लिया और अपने मुँह को मेरे मुँह के पास ले आकर—आँख में आँख मिलाकर—कहने लगा—चाचा! अब तो तुम्हारी गोंद से नहीं उतरूँगा।

उसकी बात सुनकर मेरा हृदय पानी-पानी हो गया। कुसुम बड़े आनन्द के साथ मेरी ओर देखने लगी। मैंने मन-ही-मन सोचा—हाय! हमारे समाज में जात-पाँत, सम्प्रदाय और धर्म्म की कृत्रिम दीवारों ने मनुष्य के सुंदर हृदय-मन्दिर के कितने खंड कर दिये हैं। यही लड़का जब बड़ा होगा, समाज के वीभत्स रूप खेद को देखेगा, तब फिर मुझसे कभी इस सरलता से नहीं मिलेगा।

मैं अपने साथ रूमाल में कुछ मिठाइयाँ बाँध ले गया था। मैंने उन्हें खोलकर उसके दोनों हाथों में दो-दो मिठाइयाँ रख दीं! वह खिल उठा, नाच उठा। किसी स्वजन का इतना आदर और प्यार बहुत दिनों से न पाया था।

था तो वह दस वर्ष का ही बालक पर चेहरे और चाल-ढाल से मालूम पड़ता था कि उसी उम्र में वह बहुत कुछ संसार का घात-प्रतिघात भोग चुका है।

बाकी मिठाइयाँ रूमाल-सहित मैंने कुसुम को दे दीं।

उसने फिर कहना शुरू किया—अरे, आजएक अजीब घटना यहाँ हो गई है!

मैंने उत्सुकता-पूर्वक पूछा—सो क्या?

वह कहने लगी—यहाँ एक देवीजी हैं। वह महंतजी की प्रधान शिष्या हैं। उनका दम्भ और आडम्बर विलक्षण है। वे ब्रह्मचारिणी बनती हैं। यहीं के एक धनी सज्जन ने कुछ कार्यवश उस दिन महंतजी के शयनागार के बाहर से आवाज दी। महंतजी भयभीत होकर कपड़ा सम्हालते हुए बाहर निकले। धनी-मानी दाता की उपेक्षा कैसे करते!

बेचारे स्वामीजी सिटपिटा गये। देवीजी को कमरे के बाहर निकालने के लिये सुयोग भी न पा सके। सेंध पर ही चोर पकड़ गया। मैं भी संयोगवश उसी समय उधर जा निकली। देवीजी कमरे से निकल रही थीं। मुझे देखकर बहुत लज्जित हो गई। सिर नीचा कर लिया। मैंने मन-ही-मन कहा—इसी ब्रह्मचर्य पर इतना पाखंड!

अन्त में धीरे से कह भी डाला—कहिये देवीजी आज इस समय इधर कैसे ? आज-कल आपका स्वास्थ्य गिरा हुआ क्यों देख पड़ता है ?

वह कुछ न बोलीं—केवल एक बार मुस्कुराकर अपनी राह चली गईं।

इतने ही में महंतजी बाहर निकले। मुझे पास बुला कर कहने लगे—देखो, याद रहे, यहाँ की कोई बात किसी से भूल कर भी न कहना। खाओ-पीओ मौज से पड़ी रहो।

मैंने कहा—देखिये स्वामीजी, मेरा तो स्त्री विक्रय पेशा ही है। मैं धर्म-अधर्म की बात तो जानती ही नहीं। केवल पैसे कमाना ही मेरे जीवन का ध्येय है। चाहे वह आपके द्वारा हो या संसार के और लोगों के द्वारा।

महंतजी ने बीच ही में रोक कर कहा–तुम तो विचित्र औरत हो। अच्छा, यह लो तुम्हें दो सौ रुपये पुरस्कार स्वरूप देता हूँ। अब तो यहाँ का भेद किसी से न कहोगी?

मैंने सौ-सौ रुपये के दो नोट अंटी में दबाये और सिर हिलाकर जबाब दिया कि मुझे होहल्ला करने से क्या मतलब ? मैं तो सिर्फ़ टके की खातिर अधम-से-अधम कार्य करती हूँ।

मैंने कुसुम से स्पष्ट कहा—वर्तमान समय के समाज में ईमानदारी से पैसे पैदा करना बहुत ही मुश्किल है। बेईमानी से तो पैसे आप-से-आप बरसने लगते हैं।।

कुसुम ने मेरी बात का समर्थन किया। कहा—देखो न, जब मैं कष्ट से दिन गुजारती थी, तब मुझे माँगने पर भी कोई फूटी कौड़ी नहीं देता था। और अब, अब तो बात-बात में झूठ बोलने ही पर रुपये मिलते हैं!

मुझे स्वप्न में भी विश्वास न था कि कुसुम का यहाँ तक पतन हो गया होगा। पूँजीवादी समाज में मनुष्य का तो मानों कोई अस्तित्व ही नहीं है—यहाँ तो केवल पैसे का आदर, आर्थिक योग्यता और दायता का ही सम्मान है। जो दबंग है, आतंकशाली है, उसीका प्रभाव सर्वत्र है।

सचमुच व्यक्तिगत संपत्ति का मोह बड़ा विचित्र है—बड़ा भयंकर है। उसके लिये मनुष्य को अपना मनुष्यत्व तक बेचना पड़ता है।

मैंने कुसुम से पूछा—क्या तुम आजकल सुखी हो।

उसने दुखित हृदय से जवाब दिया—क्या बताऊँ मुन्नी बाबू! स्वामी थे, धन था, निज का घर था, सब गया! स्त्रीत्व जो सर्वस्व था, वह भी चला गया। हृदय में

कुछ शान्ति थी, अब वह भी नहीं है। दिन-रात डर लगा रहता है कि जिन स्त्रियों को भगाती फिरती हूँ, उनमें से किसी के घर का कोई आदमी मुझे पकड़कर मेरे ऊपर मामला न चला दे। मैं स्वयं बंगालिन हूँ और अपनी ही बंगालिन बहनों को अपरिचित नर-पशुओं के हाथों में सौंपती हूँ—अमूल्य स्त्रीत्व-धन को कौड़ियों के मोल लुटाती हूँ। उनमें से भी अधिकांश भाग आती हैं।

मैंने पूछा—आखिर इसका कारण क्या है? बंगालिन विधवाओं की ऐसी अवस्था क्यों है?

उसने कहा—कुछ मत पूछो, बंगाल में जितना अत्याचार विधवाओं पर होता है, उतना संसार के किसी अन्य भाग में नहीं होता। बंगाल स्त्री प्रधान प्रान्त है और पंजाब पुरुष प्रधान। इसीलिए बंगालिनों का उधर अधिक चालान होता है। धर्म के जितने भी ढकोसले हैं, सबका बोझ उन्हीं के माथे मढ़ दिया गया है। इससे वे अधमरी-सी हो जाती हैं। पूर्व बंगाल की हिन्दू स्त्रियों पर तो मुसलमान बड़ा ही अत्याचार करते हैं। उधर ही से अधिक माल की चालान आती है।

मैंने उत्सुकता पूर्वक पूछा—तो क्या हिन्दू बंगाली पुरुष इसका कुछ प्रतिकार नहीं करते?

कुसुम ने झुँझलाकर कहा—आँखें बंदकर राष्ट्रीय एकता की माला जपते हैं। शायद हिंदू-मिशन या हिंदू-नारी-रक्षा संघ ने कुछ दिन सुधार का कुछ काम किया था; पर राष्ट्रीयता की आँधी ने उसे भी पस्त कर डाला।

मैंने पूछा—तो फिर विधवाओं की समस्या कैसे हल हो सकती है ?

उसने गंभीर-भाव से कहा—जब तक स्त्रियाँ अपने अधिकारों को नहीं समझ लेतीं; उनके लिये जी-जान से चेष्टा नहीं करतीं, तब तक पुरुषों के उदारभाव से किये गये सुधारों का कुछ भी स्थापित्व नहीं है। मैंने अपने जीवन में इस बात को खूब अच्छी तरह से अनुभव किया है। कई जगह मैंने आर्यसमाज के नाम पर काली करतूतें भी होते देखी हैं।

मैंने पूछा—वे क्या हैं ?

उसने कहना शुरू किया—मैं तो जानती हूँ कि देश में आर्य समाज की नकली-असली बहुत सी संस्थायें खुली हुई हैं। बहुत जगह काम भी अच्छा होता है; पर मनचले युवक तो सभी जगह होते हैं।

मैंने पूछा—तो क्या अच्छी संस्थाओं में भी स्त्रियों पर अत्याचार होते हैं ?

कुसुम ने कहा—मैं यहाँ देश-काल और पात्र का विस्तृत विवरण तो दे नहीं सकती, पर जो कुछ कहती हूँ, वह तुम्हारी जानकारी के लिये पर्याप्त होगा। आर्यसमाज ने वास्तव में हिन्दू समाज के लिये बहुत कुछ सराहनीय कार्य किये हैं; पर मैं बहुत कड़वे अनुभव से इस नतीजे पर पहुँच सकी हूँ कि जहाँ गुरूडम है, जहाँ धर्म का ढ़ोंग है; वहीं मनुष्य प्रथाओं का दास हो जाता है और उसकी विवेकशक्ति नष्ट हो जाती है। क्या बताऊं ? हिन्दोस्तान के एक सुप्रसिद्ध स्थान में आर्यसमाज की एक अच्छी संस्था है। एकदिन मैं वहाँ गई, तो कुछ बाहरी पुरुष मुझे दीख पड़े। मैंने निरीक्षिका से पूछा।

उसने जवाब दिया—ये शहर के शरीफ़ आदमी हैं।

मैं सब ताड़ गई।

आश्रम दिखाने के बाद उसने फिर पूछा—अच्छा बताओ, विधवाओं के लिये इससे सुन्दर आश्रम और कहीं देखा है ?

मैंने व्यंग-भाव से जवाब दिया इससे सुन्दर व्यवस्था और क्या हो सकती है ? जहाँ शहर के शरीफ़ आदमी चंदा देते हैं। स्वयं आकर देख-भाल तक करने की कृपा करते हैं ! स्थान बड़ा अच्छा है। खास शहर के अन्दर है।

स्त्रियों की अवस्था कुछ मत पूछिये, मुन्नी बाबू! मैं स्वयं भुक्त भोगिनी हूँ—जानती हूँ इन नर-पशुओं के देश में स्त्रियों को किस तरह अपने जीवन-धन—सतीत्व को पुरुषों के श्रीचरणों में न्यौछावर करना पड़ता है। नारी-समाज के उद्धार का तो मुझे कोई सुगम पथ ही नहीं सूझ पड़ता।

मैंने शांतभाव से कहा—तुमने कुछ ही पहले जो बातें कही थीं, बिलकुल सत्य हैं। पढ़ी-लिखी स्त्रियाँ धीरे-धीरे अपने उद्धार के आंदोलन में भाग ले रही हैं। उनमें भी कुछ विकृत मस्तिष्क की स्त्रियाँ हैं; जो स्वतंत्रता को अच्छी तरह नहीं समझतीं और पुरुषों के साथ क्षणिक सुख के लिये मिलना चाहती हैं।

कुसुम फिर कहने लगी—मैं दूसरे दिन फिर निरीक्षिका से भेंट करने गई। उस दिन वहाँ कुछ और ही गुल-खिलते देखा। कालेज के चार शिक्षित विद्यार्थी आँगन में खड़े थे। मैं सीढ़ी पर चढ़ने लगी, तो वे मुझे घूरकर देखने लगे। मैंने उनकी ओर एकबार देखकर मुँह फेर लिया। मुझे देखकर निरीक्षिका ने मुस्कुराते हुये बुलाया और बैठने के लिये आसन दिया।

चौदहवाँ परिच्छेद

आर्यसमाज के लिये बड़े कलंक का विषय था। तीन औरतें, आश्रम की छत लांघ कर एक गृहस्थ के मकान में आश्रय लिया। वे बड़ी गंवार थीं। उन्हें पहले से सिखा-पढ़ा कर रखा गया था; पर देहाती पानी का असर कहाँ जायगा? निरीक्षिका इसी तरह की बातें मुझसे कह रही थी।

कालेज के चार विद्यार्थी उन स्त्रियों पर मुग्ध हो गये थे। उनका रूप-क्रय करना चाहते थे। उनके विचार उदार अवश्य थे; पर उनमें सीना-तान कर समाज के वक्षःस्थल पर समाजिक क्रांति मचाने का साहस नहीं था। देखने में अप-टु-डेट थे। घर के धनी जान पड़ते। वे उनके पीछे दौड़े थे। लाचार हो बेचारी अपने शरीर की रक्षा के लिये भाग खड़ी हुईं।

दूसरे दिन महल्ले में बड़ा कोहराम मचा। संस्था के पदाधिकारियों ने लोगों को समझा-बुझा कर शांत किया। मामला दब गया।

मैं शांतभाव से कुसुम की बातें सुन रहा था। मेरा हृदय इन अत्याचारों को सुनकर धधक रहा था।

हम दोनों बहुत देर तक चुपचाप बैठे रहे। फिर कुसुम के लड़के ने—'माँ-भूख लगी है। कह कर कमरे की शांति भंग की।

सबेरे की बनी रसोई रखी थी उसने लड़के के सामने तश्तरी रख दी। फिर मुझसे कहने लगी—बहुत बातें हुईं अब कुछ जलपान कर लीजिये।

मैंने कहा—भूख नहीं है, तबीयत ठीक नहीं है, कुछ खाने की इच्छा नहीं है; पर कुसुम सहज ही क्यों छोड़ने लगी? उसने मुझे खिलाकर ही छोड़ा।

मैंने खाते समय कुसुम से पूछा—अब तुम किसी के पास स्थायी रूप से रहना चाहती हो या नहीं।

उसने स्पष्ट कहा—रहना अवश्य चाहती हूँ; पर कोई ऐसा माई का लाल नहीं दीख पड़ता, जो मुझे और मेरे दस वर्ष के बच्चे के भरण-पोषण का भार ले सके।

कुसुम की उम्र मुझसे चार-पाँच वर्ष अधिक थी। शरीर की गढ़न नष्ट हो चुकी थी। स्वास्थ्य भी नष्ट प्राय-सा हो चुका था। खाते-पीते, उठते-बैठते किसी गूढ़ चिंता में रत थी।

जब तक वह बनारस में थी; मैं अक्सर भेंट करने

जाया करता था। उसके जीवन को देखकर और उसकी बातें सुनकर मेरे ऊपर बहुत बड़ा प्रभाव पड़ा। मेरा उसके साथ कभी कोई अनुचित सम्बन्ध नहीं था। वह मुझसे एक बात बार-बार कहा करती थी—हो सके तो किसी पतिता का उद्धार करना, अन्यथा जीवन भर विवाह ही न करना। वह केवल कोरा उपदेश न था। उसकी बातों से साफ़ मालूम पड़ता था कि ये शब्द जले हृदय की दहकती ज्वाला के कण हैं।

पन्द्रहवाँ परिच्छेद

जून का महीना था। धधकती हुई लू बह रही थी। आँखें खोलकर घर के बाहर ताकना मुश्किल था। किसी की आवाज़ साफ़-साफ़ सुनाई नहीं पड़ती थी। भारत में उस समय सत्याग्रह-आन्दोलन की आँधी चल रही थी। सन् १९२९ की घटना है। मैंने कांग्रेस में भाग लिया था। महात्मा गांधी के व्यक्तिगत चरित्र पर मुझे जितनी अगाध भक्ति थी; उतना कांग्रेस के कार्य पर विश्वास न था।

जोरों से मैं अपनी साइकिल दौड़ाता हुआ कांग्रेस-बुलेटिन बाँटने जा रहा था। किसीने मुझे पीछे से कई बार पुकारा। मैं साइकिल से उतर गया।

पुकारनेवाली कांग्रेस की एक स्वयंसेविका, विधवा कमला थी। देखने में बड़ी चंचल और सुन्दरी थी।

उसने धीरे से मेरे कानों में कहा—देखो! सीधी सड़क से न जाओ। नीचीबाग के पासवाली गली से निकल जाना। उधर पुलिस काफी है। उनमें से बहुतेरे तुम्हें पहचानते भी हैं।

मैंने उसकी बातें मान लीं; किन्तु अपनी गिरफ़ारी के भय से नहीं, बल्कि जरा देर उससे बातें करके अपने हृदय की ज्वाला शांत करने के लिये।

मैंने उससे थोड़ी दूर तक अपने साथ चलने के लिये कहा।

वह मुस्कुरा कर बोली—हमें तो अभी पिकेटिंग करने जाना है।

मैं जोर से उसका हाथ पकड़ कर घसीटता हुआ अपने साथ ले चला; तो उसने स्वेच्छा से जाना स्वीकार कर लिया। मैंने उसका हाथ छोड़ दिया। एक तमोली की दूकान पर दो पैसे के पान लगाने की आज्ञा देकर ठहर गया। उसने पान लगाकर दिया। कमला को खिलाया और स्वयं भी खाया।

मैं उसके मुख-मण्डल को सतृष्ण नेत्रों से निहारता हुआ आगे बढ़ने लगा। मुझसे न रहा गया। मैंने उसके दाहिने हाथको दबाया, वह हँसकर कहने लगी—रास्ते पर क्या शरारत करते हो ? इतना कहकर मेरे हाथ को झिटक दिया और शीघ्र ही मुलाकात करने का वादा कर अपने काम पर चली गई।

मैं वहीं निस्तब्ध कुछ देर तक खड़ा रहा। मुझे फिर अपने कर्तव्य का खयाल हो आया। बहुत देर हो चुकी थी। मैंने चुपचाप बुलेटिन बाँटना शुरू कर दिया।

घण्टे-डेढ़-घण्टे बाद जब मुझे फुरसत मिली तब मैं कमला के पास पहुँचा। उससे घनिष्ठता होने के पूर्व मुझसे बहुत-सी स्त्रियों से प्रेम हो चुका था—नहीं-नहीं—प्रेम का स्वांग रचा जा चुका था। वह मुझे देखकर कुछ असंतुष्ट-सी हो गई। आँखों के इसारे से डाँटा। मुझे बड़ा आनंद मिला। मैं मुस्कुरा कर रह गया।

स्वात्विक प्रेम मौन होता है। उसमें दो प्रेमीजीव एक दूसरे के लिये तड़पते हैं—बेचैन रहते हैं; पर मेरे और कमला के प्रेम में किसी और की ही शक्ति प्रवल थी। आपस में खूब घुलते-मिलते थे।

हमारे साथ के कार्यकर्त्ता हमलोगों का रंग-ढंग देख कर बोली-आवाज़ा कसने लगे। कमला ने एक दिन मुझ-से कहा—देखो, स्वयंसेविकायें मेरी बड़ी हँसी उड़ाती हैं। उसका गला रुँध गया, चेहरा तमतमा उठा। मेरी ओर एक टक देखने लगी।

यहीं से मेरा जीवन-स्रोत कुछ दूसरा रंग पकड़ने लगा। मैं बार-बार सोचता था—मेरे माँ-बाप दकियानूसी विचार के हैं। वे कमला को घर पर स्थान नहीं देंगे—शायद उन्हें मेरे प्रेम का हाल मालूम हो जाने पर, मुझे भी घृणा की

दृष्टि से देखने लगें। मुझे उस समय कुछ रुचता नहीं था। जब एकान्त में बैठता, तो मुझे कमला की चिंता आ घेरती थी। मुझे कोई उपाय नहीं सूझ पड़ता था। मैं स्वतंत्ररूप से कोई जीविका कमाता न था। पहले माँ पर मेरा बहुत प्रभाव था। मैं जिस बात का हठ करता था; उसे करा लेता था। अब मेरे दो भाई-बहन हो गये थे। मुझे कमला से मिलते-जुलते लज्जा मालूम पड़ती थी। मेरे ही कारण बेचारी कोसी जाती थी।

उन दिनों इलाहाबाद में आंदोलन जोरों से चल रहा था। स्वराज-भवन में अखिल-भारतीय-कांग्रेस का दफ़्तर था। और हमलोगों का शिविर भी उसी में था। बनारस से बीस स्वयंसेवक भेजे गये थे। उनका नायक मैं ही था।

बनारस से रवाना होते समय कमला मेरे पास आई और सस्नेह नेत्रों से मेरी ओर देख कर एक ठंढ़ी साँस ली।

मैं उसकी वियोग-व्यथा को देखकर व्याकुल हो गया। मैंने उसके सिरपर हाथ रखकर धीरे से कहा—कमला! घबड़ाओ नहीं, शीघ्र ही लौट आऊँगा—मैं कम-से-कम वहाँ अधिक दिन तक तुम्हें देखे बिना टिक ही न सकूँगा।

मेरे इतना कहने पर वह खिल उठी। शिविर के छत

की सीढ़ी पर हमारी बात-चीत हो रही थी। हमदोनों सतर्क नेत्रों से नीचे की ओर देखते जा रहे थे। कोई आता तो नहीं है।

अपनी भुजाओं से उसने गले को बाँधकर अपने मुँह को मेरे मुँह के निकट ले आकर करुण-स्वर से कहने लगी—मुझे भूलोगे तो नहीं ? अच्छा जाते हो, जाओ। फिर वह उदास हो गयी। उसकी बाहों का बंधन ढीला पड़ गया। पृथ्वी की ओर देखने लगी। फिर गद्‌गद् कंठ से कहने लगी—हमारा जीवन अनिश्चित है। न जाने तुम कहाँ रहो और मैं कहाँ ? कौन जानता है कि कब जेल की हवा खानी पड़े ?

मेरा हृदय धड़कने लगा। एक मूहूर्त में पूर्व-स्मृतियाँ बायस्कोप के चित्रों की तरह एक-एक करके आँखों के आगे से विलीन होने लगीं। मैं सोचता था—आज तक कभी भी किसी प्रेमिका ने इतनी वेदना-भरी बातें नहीं सुनाई थी। कमला के प्रति मेरा हृदय सदा के लिये आकर्षित हो गया। न मालूम हम दोनों कितनी देर तक चुप रहे। फिर हम दोनों सीढ़ी पर बैठ गये। मैं कमला के बाल को सहलाता जाता था; इससे उसे बड़ा आनंद अनुभव हो रहा था। यकायक नीचे से आवाज़ आई—मुन्नीलाल जी !

मैं उठ खड़ा हुआ। बड़ी विकट अवस्था थी। यदि सीढ़ी ही पर से आवाज़ देता तो शिविर के अन्यान्य स्वयंसेवक संदेह करते।

मैं कुछ देर तक चुप रहा। फिर कमला का चुम्बन करता हुआ कहने लगा—कमला मैं प्रण करता हूँ कि तुम्हीं से विवाह करूँगा।

कमला के कपोल अरुणवर्ण हो गये। वह कुछ बोल न सकी। केवल आँखों से कृतज्ञता प्रकट कर रही थी। मैं धीरे से सीढ़ी से उतर आया और अपनी कोठरी में चला गया। किसी ने मुझे देखा नहीं। फिर कोठरी के बाहर आकर एक स्वयंसेवक से मैं पूछने लगा—मुझे, कौन पुकारता था जो ?

उसने जवाब दिया—आपलोगों को इलाहाबाद जाना है न ? उसी लिये प्रधान-नायक आपलोगों के लिये कपड़ा-लत्ता खरीदने टाउनहाल की ओर गये हैं।

दो बज गये थे। सवा तीन में ट्रेन छूटती थी। ढाई बजे सभी स्वयंसेवक बाजार घूमकर लौट आये। तुरंत ही स्टेशन के लिये हमलोग रवाना हो गये। कमला शिविर की खिड़की से मुझे देख रही थी।

सोलहवाँ परिच्छेद

मध्यरात्रि का समय था। चारो ओर सन्नाटा था। स्वाराज्य-भवन में सब कार्यकर्ता सो रहे थे। केवल मैं अपने विस्तरे पर पड़ा-पड़ा करवटें बदलता और उसासें भर रहा था। स्वच्छ आकाश के तारों को देखता जा रहा था। मन में न जाने कितनी कल्पनायें-जल्पनायें समुद्र के तरंग की नाईं उठतीं और विलीन हो जाती थीं।

विश्वविद्यालय की घड़ी ने दो बजे की आवाज दी। मेरी हृदय-तंत्री भी झनझना उठी। मैं व्याकुल होकर विस्तर छोड़ बग़ीचे में चला आया और टहलने लगा। प्रयाग में एक-एक मिनट एक-एक युग के सदृश व्यतीत होने लगा। दो दिन बाद कमला का एक पत्र मिला। पढ़कर हृदय को कुछ सान्त्वना मिली। उसकी दो लाइनों में बड़ा प्यार था। लिखा था—अपने कर्त्तव्य को भूलना नहीं, मैं तुम्हारी ही होकर रहूँगी।

उन दो लाइनों को मैं बार-बार पढ़ता, उन पर विचार करता; अन्त में इस नतीजे पर पहुँचता कि कमला के पास कुछ धन और आभूषण अवश्य होंगे तभी तो इतने साहस के

साथ लिखती है—घबड़ाना नहीं। मैं उसके गहने और रुपये के बदौलत उससे शादी करूँगा? यह मुझसे न हो सकेगा। प्रेमिका के सिर पर बोझ न होऊँगा। इस तरह के कितने विचार-तरंग मन में आते और विलीन हो जाते थे। दूसरे दिन प्रातःकाल जब मन प्रकृतिस्थ हुआ तब जीवन की उन स्मरणीय घड़ियों की विचार-धाराओं को कुछ डायरी में नोट कर लिया था।

सत्रहवाँ परिच्छेद

चौथे दिन हमलोगों के खाने-पीने का बन्दोबस्त पास ही के एक होटल में हुआ। वहाँ दो-चार परिचित आदमी भी रहते थे। उनकी मारफत यहाँ के और लोगों से रफ्त-जफ्त हो गया। मैं कभी-कभी रात को वहीं सो भी रहता था। वहाँ बीस-पचीस सज्जन रहते थे। उनमें गुजराती, बंगाली, बिहारी, आन्ध्रदेशवासी, पंजाबी और महाराष्ट्र भी थे। मैं सबसे मिलता-जुलता था। यहीं मुझे भिन्न-भिन्न भाषा-भाषियों तथा प्रान्तवासियों से मिलने का अच्छा मौका मिला। सभी युवक थे। एक ही चौके में खाते थे। छूआछूत का भूत किसी के सिर पर सवार न था; परन्तु एक साथ बैठकर बातचीत करने की स्पृहा भी नहीं थी।

एक दिन बेंचपर बैठकर चार आदमी टेबिल पर भोजन की थाली रखकर खा रहे थे। नीम के पेड़ की छाया थी। मंद-मंद समीर बह रहा था। हमलोग गप-शप करते जा रहे थे। संयोगवश 'प्रान्तीयता' पर बात छिड़ गई। उन सज्जनों में पंजाबी, महाराष्ट्र, बंगाली और युक्त-प्रान्त-वासी ही थे। मैं पास ही खड़ा था।

पंजाबी सज्जन ने कहा—पंजाबियों और बंगालियों की मित्रता बड़ी जल्दी होती है।

महाराष्ट्र सज्जन ने उनकी बात को काटते हुये कहा—मैंने देखा है—मराठों और बंगालियों की मित्रता झट हो जाती है।

बंगालीबाबू ने टेबिल पर हाथ पटककर जवाब दिया—अजी असल बात तो यह है कि जिनमें कार्य तत्परता होती है, उनसे बंगालियों से मित्रता शीघ्र हो जाती है।

यू० पी० वाले सज्जन बंगालीबाबू की बात को सुनकर थोड़ा मुस्कुराये, पर मुँह से कुछ नहीं बोले।

एक ग्रास खाकर फिर बंगालीबाबू बोले—यू० पी० वाले ही बंगालियों को प्रान्तीय भावापन्न कहकर सबसे ज्यादा कोसते हैं।

इतना सुनने पर यू० पी० वाले सज्जन ने उदास भाव से कहा—बात बहुत कुछ सही है; पर समझ में नहीं आता कि आखिरकार इसका कारण क्या है?

बंगाली बाबू ने कहा—अन्यान्य प्रान्तवाले—जैसे पंजाबी, गुजराती, मारवाड़ी आदि अधिकतर छोटे-बड़े व्यवसाय करते हैं; परन्तु हिन्दी-भाषा-भाषी प्रान्तवाले पुलिस का

काम, दरवानी और रसोई-बनाना—ये ही तीन कार्य करते हैं। बंगाली बंगाल के बाहर ज्यादातर अच्छे-अच्छे पदों पर गये; पर हिंदी-भाषा-भाषी अपने-अपने प्रान्त के बाहर यदि पुलिस की नौकरी पर जाते हैं, तो फूले नहीं समाते। आरा, छपरा जिलेवाले बंगाल में काम करते हैं और वे अपना परिचय 'विहारी' कहकर देते हैं। पर यू० पी० वालों का कोई खास परिचय न होने के कारण कोसे जाते हैं; और वे दूसरों को—विशेषतया बंगालियों को अधिक कोसते रहते हैं। बंग-विच्छेद के पूर्व बंगाल, विहार और उड़ीसा पहले तो एक ही प्रान्त में सम्मिलित थे। देश के दुर्भाग्य से वे दो टुकड़ों में बाँट दिये गये।

यू० पी० वाले सज्जन ने कहा—पर आजकल तो बंगालियों और विहारियों में सार्वजनिक संस्थाओं पर धाक जमाने के लिये आपस में खूब धींगा-धींगी होती है। फिर भी वे एक दूसरे से प्रेम से मिल-जुल कर रहते हैं। यू०पी० वाले सचमुच बड़े रूखे होते हैं। उनसे अन्य किसी भी प्रान्तवालों से पटरी नहीं खाती!

बंगालीबाबू ने मुस्कुराते हुए कहा—आखिरकार सत्तू ही खानेवाले तो हैं!

सब लोग खिलखिलाकर हँस पड़े ।

बंगालीबाबू ने फिर कहना शुरू किया—जरा माफ़ करना, भाई सुखदेव ! हम तो एक साथ उठने-बैठने और खाने-पीनेवाले हैं, कोई अनुचित बात भी कह दें, तो बुरा न मानना । सचमुच देखो, बनारसी और मिरज़ापुरी यहाँ जाकर गुण्डई करते हैं । दिन-दहाड़े खून-खराबी करते हैं । उनसे कोई शरीफ़ आदमी कैसे प्रेम कर सकता है ?

सुखदेव ने कहा—बंगालीबाबू ! इस प्रान्त में शिक्षा का अभाव ही इन सब त्रुटियों का मूल कारण है । बंगालियों का समाज और जीवन ही साहित्यमय है । इसलिये वे स्वभाव से ही भावुक और रसिक होते हैं । बेचारे यू०-पी० वाले तो केवल बाजारू गजल, पूरबी-चैती गीतों से ही मन-बहला लेते हैं । बंगालियों के साधारण जन-समाज में भी कवीन्द्र रवीन्द्रनाथ, शरच्चन्द्र चट्टोपाध्याय, कवि नजरूल इस्लाम आदि की चर्चा होती है और अन्य प्रान्तीय शिक्षित समाज में शेक्सपीयर, शेली, वर्डसवर्थ और कीट्स आदि की ही चर्चा करने में गर्व का अनुभव करते हैं । ऐसे लोगों के साहित्य की उन्नति कैसे हो सकती है ?

पंजाबी सज्जन ने कहा—अरे भाइयो ! काहे को माथा

पक्षी करते हो ? प्रांतीयता के साथ रोटी का सवाल जुड़ा हुआ है। बंगाली, पंजाबी, यू० पी० वाले सभी अपने-अपने पेट के लिये जैसे होता है, वैसे स्वार्थ-सिद्धि करते हैं। संकीर्ण प्रान्तीयता तो अशिक्षित, और असंस्कृत लोगों की नस-नस में भरी हुई है; पर जो उदार विचार के शिक्षित हैं, उनके हृदय से प्रान्तीयता केवल राष्ट्रीय स्वतन्त्रता पाने से ही दूर नहीं हो सकती। वह फिर उसी रूप में प्रवेश करेगी; जिस तरह इङ्गलिश और स्काटिश आपस में एक दूसरे को घृणा करते हैं। इस प्रान्तीयता को समूल नष्ट करने के लिये एक ऐसा साम्यवादी प्रजातन्त्र राज्य होना चाहिये जिसमें किसी तरह के पक्षपात की गुञ्जाइश न हो।

अठारहवाँ परिच्छेद

मैं इलाहाबाद से एक महीने बाद लौट आया। दस बजे थे। भोजन का समय था। नहा-धोकर खाने के लिये बैठ गया। माताजी ने रसोई परोस दी। जल्दी-जल्दी खा-कर उठ पड़ा। कमला से भेंट करने की बेचैनी पड़ी हुई थी। शिविर में गया। वहाँ वह न दीख पड़ी। किसीसे कुछ संकोचवश पूछ भी न सका। मैं उसे खोजता हुआ चौक के कपड़ों की दूकानों की ओर लपका। उसने मुझे देखा न था। वह मेरी ओर पीठ करके खड़ी थी। मैंने उसके पास धीरे से जाकर उसका आँचल खींचा। वह मेरी ओर घूम कर देखने लगी। मैं हँस पड़ा। वह चकित हो गई। उसने मुझे कंपनीबाग की ओर जाने के लिये कह दिया। मैं उधर ही चल पड़ा। वह थोड़ी ही देर में वहाँ आ गयी।

हम दोनों कंपनीबाग में एक कुंज के नीचे बेंच पर बैठ गये। एक बज गया था। इक्के-दुक्के आदमी बाग के भीतर से जा-आ रहे थे। उस दिन हम दोनों ने क्या-क्या बातें कीं, कुछ स्मरण नहीं है। पर एक ही बात याद आती है। कमला ने कहा—अब मैं तुम्हें छोड़कर नहीं रह सकती।

मैं उसकी बातों से लज्जित हो गया, कुछ उत्तर न दे सका।

कमला मेरे हृद्‌गत भावों को कुछ-कुछ भाँप गई। बोली—मैं अपना सर्वस्व तुम्हारे चरणों पर न्योछावर करने के लिये तैयार हूँ। बोलो क्या कहते हो?

प्रेम में सेवा और आत्म-समर्पण के भाव सचमुच बड़े ही सुखद होते हैं। मेरा मन, प्राण और शरीर उसकी बातें सुनकर पुलकित हो गये। मुझे कोई उत्तर नहीं सूझता था। मैं चुपचाप बैठा हुआ दूसरी ओर देख रहा था।

वह रूठकर बोली—पुरुष बड़े छलिया होते हैं। तुम्हारे प्रयाग चले जाने के बाद मेरी जो अवस्था हुई थी वह केवल एक अन्तर्यामी ही जान सकता है; पर तुम्हें क्या? तुम तो निश्चिन्त मालूम पड़ते हो!

मैंने उससे कहा—अच्छा, थोड़े दिन ठहर जाओ।

यह कहकर मैंने उस समय अपनी जान छुड़ायी।

उन्नीसवाँ परिच्छेद

'ज़र और जोरू' के लिये यदि हाय-हाय न करना पड़े, तो वास्तव में यौवन के सुनहले दिन बड़े ही सुखद हों। इस पूंजीपति-समाज में मनुष्य का कोई मूल्य ही नहीं है। प्रेम, स्नेह आदि सद्भावनायें पैसे के आगे काफूर हो जाती हैं।

कमला इन दिनों मुझसे विवाह कर लेने के लिये दिन-रात कोसती थी। मैं बहुत परेशान था। मैंने कन्हैयालाल को पत्र लिखा। उससे विवाह के विषय में सलाह ली।

उसने उत्तर दिया—यदि वास्तव में कमला तुम्हारे ऊपर आसक्त है, विवाह के लिये तैयार है, तो तुम अवश्य विवाह कर लो। समाज के लिये बड़ा ही सुन्दर दृष्टांत होगा।

कमला बंगालिन थी। बाल्यकाल ही में दस वर्ष की उम्र में विधवा हो गई थी। काशी में भाड़े पर अपनी बुढ़िया सास के साथ रहती थी। बंगाल में थोड़ी-सी जायदाद थी, उसीसे खर्च चलता था। मैं सारस्वत ब्राह्मण था। मेरे पूर्वज पंजाब के रहनेवाले थे। हम दो पुश्त से काशी

में ही रहने लग गये थे। उसके साथ विवाह करने के माने समाज से वहिष्कृत होना अनिवार्य था। प्रेम स्वतंत्र होता है। उसकी गति के आगे सब विघ्न-वाधायें तुच्छ हो जाती हैं।

मैंने माँ-बाप से अपनी इच्छा कह डाली। उन्होंने आँखें तरेर कर उत्तर दिया—अजाति हो गया है। धर्म-भ्रष्ट हो गया है। तू मेरे कुल में कलंक पैदा हुआ है।

मैंने उनकी झिड़कियों को स्थिर-चित्त से सुन लिया। यह तो पहले ही से समझ रखा था कि पूजा-पाठ करनेवाले ब्राह्मण हमको क्यों ऐसा जाति-कुल-विरोधी कर्म करने की सलाह देने लगे?

बीसवाँ परिच्छेद

शिविर का विशाल भवन था। काशी के गण्यमान्य समाज-सुधारक, कांग्रेस के कार्यकर्त्ता तथा उदार विचार वाले युवक मेरे विवाहोत्सव में उपस्थित थे।

विवाह बिलकुल नवीन शैली से संपन्न हुआ था। थोड़े से गाने-बजाने के शौक़ीन सज्जनों ने अपने संगीत और सुललित तान से विवाह की महफ़िल को सजीव बना रखा था।

हम स्त्री-पुरुष एक साथ शिविर के आँगन में बैठे हुये थे। स्त्रियाँ कमला के पास बैठी हुई थीं। बीच-बीच में धीरे-धीरे हमसे मज़ाक करती जाती थीं। कोई भी परदे नशीन औरत नहीं थी। मेरी माता की कम-से-कम उस दिन कमला को आँख भर देखने की उत्कट इच्छा थी; पर पिताजी ने उन्हें मनाकर दिया था।

मेरे इष्टमित्र खिलाने-परोसने और व्यवस्था करने में व्यस्त थे। उन्होंने जी भरकर परिश्रम किया। आत्मीय-स्वजनों एवं बान्धवों को छोड़कर निमन्त्रित सभी सज्जन नये विचार के थे। सभी मेरे विवाह से पुलकित थे। हमारे

साथ के स्वयंसेवक और स्वयंसेविकायें हमारे भाग्य पर फूली नहीं समाती थीं।

मैंने कन्हैयालाल और एनी को विवाह में सम्मिलित होने के लिये निमन्त्रण भेजा था; पर कन्हैयालाल की परीक्षा निकट थी। इसलिये वे न आ सके। एनी अकेली कैसे आती। उनके न आने से मुझे बड़ा दुःख हुआ। कमला के घर पर ही मैं रहने लगा। कमला अपने सास की सेवा-सुश्रुषा जी लगाकर करती थी। इसलिये उसकी सास हमारे ऊपर खुश रहती थी। प्यार भी करती थी। उसकी बुढ़ौती में हम ही उसके अवलम्ब थे।

कमला के रुपये से मैंने एक छोटी-सी विसातबाने की दूकान खोल ली। उससे कुछ ही दिनों में अच्छा लाभ होने लगा। फिर मैंने एक मित्र को भी अपनी दूकान का साझीदार बना लिया था। हम कांग्रेस का कार्य बराबर करते जा रहे थे। अभी तक मुझे एनी की बातें अच्छी तरह समझ में नहीं आयी थीं। जिधर स्रोत तेज़ था उधर ही मैं भी बे रोक-टोक बहा जा रहा था।

कांग्रेस में कार्य करते समय मैंने अच्छी तरह इस बात का अनुभव किया कि साधारणतः स्वयंसेवक अपने अधि-

कार-ज्ञान से शून्य थे। बेचारी स्वयंसेविकाएँ तो पेट के लिये नन्हे-नन्हे बच्चों को गोद में लेकर रुग्णावस्था में भी काम करती थीं। उन्हें दुनिया के उलट-फेर का कुछ भी ज्ञान न था। पेट की धधकती ज्वाला शान्त करने के लिये दो मुट्ठी अन्न से ही उन्हें सन्तोष था।

इक्कीसवाँ परिच्छेद

मैं मध्यवित्त श्रेणी का व्यक्ति हूँ; पर यौवन की ड्योढ़ी पर मैंने चारों ओर काँटे बिछे हुए देखे। इससे मेरा हृदय वर्तमान समाज के प्रति घोर विद्रोही हो उठा।

कन्हैयालाल इंजीयरिंग की परीक्षा पास कर चुका था। पढ़ने-लिखने में तेज-तर्रार और चलता-पुर्जा भी था। शीघ्र ही चौबीस परगने में ढाई सौ रुपये की नौकरी मिल गई। एनी के साथ उसका प्रेम उत्तरोत्तर बढ़ता ही गया। अन्त में उसने उसके साथ विवाह कर लिया; पर सौभाग्यवश घर से निकाल बाहर नहीं किया गया। एनी हिंदू-स्त्री के वेश में रहने लगी। कन्हैयालाल की विवाह-कथा चारों ओर फैल गई। उदार विचार के लोगों में उसकी इज्जत बढ़ गई। शीघ्र ही आर्थिक उन्नति भी हो गई। पाँच-छः सौ की माहवार आमदनी होने लगी। उसी पर सबके भरण-पोषण का भार था; पर एनी स्वतंत्र रूप से डाक्टरी करती थी। वह कन्हैयालाल के सिर का बोझ न थी, स्वयं ही यथेष्ट कमा लेती थी।

असल में कन्हैयालाल के घर से बहिष्कृत न किये

जाने का एक प्रधान कारण था, उसी पर घर का सम्पूर्ण भार था। मुझे उसके सौभाग्य पर ईर्षा होती थी। मैं कभी-कभी उससे मज़ाक़ में ये बातें कह भी दिया करता था।

एर्ना विवाह के कुछ ही दिनों बाद मज़दूरों की सेवा करने लगी। वह ट्रेड यूनियन (मजूर-संघ) की सदस्या बन गई और अपने सहकर्मियों को हर तरह से सहायता पहुँचाने लगी। मजदूरों से उसकी आन्तरिक सहानुभूति थी। वह और उसके माँ-बाप वर्तमान पूँजीपति-समाज से ठुकराये जा चुके थे। उसने हिन्दी-बँगला अच्छी तरह से सीख ली थी। वह उन भाषाओं में अपने भावों को व्यक्त कर लेती थी। एर्ना के जीवन में ही मैंने इस बात का अच्छी तरह से अनुभव किया कि शिक्षा ही मनुष्य-जीवन का मेरुदंड है—उसीके बल पर मनुष्य दुःख-दैन्य में भी जीवित रहता है। इसीलिये विवेकानंदजी ने कहा है कि शिक्षा ही मनुष्य में उपस्थित देवत्व को प्रस्फुटित करती है।

बाइसवाँ परिच्छेद

मैं जून के अन्तिम सप्ताह में गिरफ्तार कर लिया गया। मुझे केवल तीन महीने की सज़ा हुई। जेल में मेरे वार्ड में युवक ही अधिक थे। सभी राजनैतिक कैदी थे। हम-लोग कभी-कभी आपस में वाद-विवाद किया करते थे। हमारे मुख्य विषय थे हिंदू-मुस्लिम और अछूत-समस्या। हमारी गोष्ठी के प्रधान वक्ता थे—रामकुमार, पँवारू और आसफ़उल्ला। पँवारू कथित अछूत था।

गर्मी का दिन था। दिन भर खूब तप चुका था। शाम को आँधी चलने लगी। हम लोगों के जान में जान आई। अपनी-अपनी कोठरी से निकलकर हम लोग बाहर मैदान में बैठ गये। हिन्दू-मुस्लिम प्रश्न पर बात छिड़ गई।

रामकुमार ने कहा—अदना-से-अदना आज दिन यह कहता है कि हिन्दू-मुस्लिम एक हो जायँ, तो स्वराज्य मिल जाय—आपस में दंगा-फसाद करने से क्या मिलता है?

मैं—बात बहुत सीधी-सादी है; पर विचारपूर्वक देखा जाय, तो यही समस्या सबसे अधिक जटिल है।

हम लोगों में आसफ़उल्ला ही उम्र में सबसे अधिक था। बड़ा अनुभवी और भलामानस था।

उसने कहा—भाइयो ! हिंदू-मुसलमानों का मनोमालिन्य उतना ही पुराना है जितने कि ये शब्द पुराने हैं। मुगल-साम्राज्य और मरहठा-साम्राज्य के अवसान के उपरांत हिंदू-मुसलमानों में परस्पर मेल-जोल होने लगा था। अन्य शक्तियों के प्रभाव से रुख बदल गया। अपने स्वार्थ के लिये एक दूसरे में हिंसा-विद्वेष के बीज बोता है। एक दूसरे को घृणा की दृष्टि से देखता है। आज के मुसलमान भी इस बात को खूब अच्छी तरह समझते हैं। यदि भारत को राष्ट्रीय स्वतन्त्रता, राष्ट्रीय कार्यक्रम से, मिली तो ये सभी बातें दूर हो जायँगी। वे इस बात को नस-नस से अनुभव करते हैं। अदूर भविष्य में हिंदू सब ढकोसले को तोड़-फोड़कर बड़े शक्तिशाली हो जायँगे, एकता के सूत्र में बँध जायँगे। सिक्ख तो उनके नजदीकी भाई हैं। केवल हम ही हिन्दोस्तान में अलग पड़े रह जायँगे। यह उनके अन्तस्तल की बातें हैं। मैं ख़ूब अच्छी तरह से इस बात को महसूस करता हूँ कि भारत के मुसलमान बहुत ज्यादा तायदाद में अपढ़ हैं। जो थोड़े-से पढ़े-लिखे हैं वे संप्रदाय

वाद और मज़हब के नाम पर अपना प्रभुत्व क़ायम रखने के लिये बेचारे भूखे अपढ़ मुसलमानों को दलबंदी में फँसाये रहते हैं।

पँवारू ने कहा—पर बहुतेरे नौजवान मुसलमान मुस्लिम जनता को मनुष्योचित अधिकार के लिये तथा उनकी मोह-निद्रा तोड़ने के लिये चैतन्य करने का प्रयास कर रहे हैं।

आसफउल्ला ने धीरे से जवाब दिया—अजी वे नौजवान बहुत थोड़े हैं। अधिकांश आराम-कुर्सी पर बैठकर गुल-छर्रे उड़ाना चाहते हैं। भारत में किसी भी संप्रदाय की जंजीरें तोड़ने के लिए आज़ादी के दीवानों की आवश्यकता है।

सभी ने सिर हिलाकर उसकी बात का समर्थन किया।

मैंने कहा—मियाँ आसफउल्ला, जो कुछ भी कमजोरी मुसलमानों में हो; पर जब वे एक बार ठिकाने से सचेत हो जायँगे, तो हम अभागे हिन्दुओं से वे बहुत आगे बढ़ जायँगे। मुसलमानों में एक बड़ी भारी सिफ़त है। कोई भी सिद्धांत, चाहे अच्छा हो या बुरा, खोपड़ी में घुस जाना चाहिये; फिर देखिये न, वे उसके लिये जी-जान से जुट पड़ेंगे, जमीन-आसमान एक कर डालेंगे। वस्तुतः अधिकांश मुसलमान ग़रीब हैं।

बीच ही में पँवारू ने बात काटकर कहा—बात तो तुमने पते की कही। अछूत और मुसलमान ही निर्धन दलित वर्ग के प्रधान अंग हैं। मैं तो स्वयं अछूत हूँ। इस बात को खूब अच्छी तरह से देखता हूँ और उन्हें कहते सुनता हूँ—जो कुछ देश में हो रहा है, ठीक ही है। पर हम सदा के ठुकराये हुए—जूठन से पले हुए मनुष्य-कीटों को रोटी के आंदोलन के सिवा दूसरे किसी आंदोलन से मत-लब नहीं। सबसे पहले हमारी आधी-टुकड़ी रोटी जिस उपाय से मिलेगी उसे ही हम अपना धर्म-कर्म समझ लेंगे और फिर आगे बढ़ेंगे।

निर्धन दलितों में से अधिकांश अपढ़, गँवार और मूर्ख अवश्य होते हैं; पर वे नस-नस में अपनी हीनता का अनुभव करते हैं। वे चिकनी-चुपड़ी बातों से बहकने-वाले नहीं हैं—'रोटी के सवाल' के विषय में उनका ज्ञान परिपक्व होता है। अभी वे अपनी शक्ति को पहचानते नहीं—बस, यही उनमें त्रुटि है।

जेल में हम लोगों के विचारों में घोर परिवर्तन होने लगा। हमलोग इस बात को बहुत अच्छी तरह से सम-झने लगे कि देश के अधिकांश व्यक्तियों को धोखे की

टट्टी में रख छोड़ने से, उनके अधिकारों को साफ-साफ व्यक्त न करने से, विश्व के ज्ञान-भांडार पर मुट्ठी-भर लोगों के एकाधिपत्य जमाने से, भारत का क्या, मनुष्य-समाज का हित-साधन हो ही नहीं सकता। इस तरह से लूट-खसोट तो बराबर किसी-न-किसी रूप में जारी रहेगी ही।
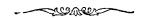
तेइसवाँ परिच्छेद

उस दिन मैं जेल से रिहा होनेवाला था। मेरी बड़ी ही विचित्र अवस्था थी। जेलखाना तो मानों भ्रातृमंडली में परिणत हो गया था—सारे दुःख-कष्ट काफूर हो गये थे—सभी समान रूप में सुख-दुख के भागी ! क्या ही जीवन था ! मनुष्यत्व की झलक वहीं देख पड़ती थी। आह ! उसीमें वास्तविक सुख था।

ज्योंही जेल के बाहर निकला, फिर वही दो पैर के जीवों का संसार हिंस्र जंतुओं की तरह आपस में तुच्छ स्वार्थ के लिये लड़ते-भिड़ते देख पड़ा।

विदाई की घड़ी कैसी थी ? मैं वर्णन नहीं कर सकता। सितम्बर का महीना था। मैं बरेली जेल से मुक्त हुआ। वहाँ से छूटते ही सिकरौल (बनारस छावनी) स्टेशन पर उतरा, जहाँ कमला और मेरे इष्ट-मित्र मेरा स्वागत करने के लिये बाट जोह रहे थे।

मैं उनके साथ घर चला आया। मेरी माँ मुझसे मुलाकात करने के लिये मकान पर आई थी। वह बेचारी

बड़ी घबराई हुई थी। वह मुझे देखते ही करुणा-गद्-गद् कंठ से बोली—बेटा मुन्नीलाल! सकुशल लौट आये?

मैंने जवाब दिया—माँ! तुम्हारा आशीर्वाद है। वहाँ मैं अच्छी तरह से था।

माँ का स्वभाव कैसा ही क्यों न हो, वह अपनी सन्तान पर सदा सदय ही रहेगी—घर के एकान्त कोने में बैठकर हृदय से बार-बार उसकी कल्याण-कामना ही करेगी।

मुझमें अब चरित्रगत दुर्बलताएँ न थीं। मैं आत्म-श्लाघा नहीं करता। अपने हृदय की बातों को केवल साफ़-साफ़ कह देना चाहता हूँ। मेरे ऐसे पतित-से-पतित मनुष्य भी यदि स्वतंत्र रूप से विचार करना सीखें, सुधी-समाज में उठें-बैठें, सुचिन्ता करें, तो पशु से मनुष्य हो सकते हैं—असंभव को संभव कर दिखा सकते हैं।

काशी में मैं कुछ ही दिन रह सका था। मुझे दूकान के माल-असबाब खरीदने के लिये कलकत्ता चला जाना पड़ा। इधर कमला भी गर्भवती थी। उसका स्वास्थ्य अच्छा नहीं रहता था। उसकी सास और मेरी माँ उसकी देख-रेख करती थीं।

चौबीसवाँ परिच्छेद

कन्हैयालाल के मकान में घुसकर आवाज़ देते ही, पास ही के कमरे से लपककर, मेरा स्वागत करने के लिये, 'एनी' आई। हाथ मिलाया। बोली—बंधुवर ! अच्छे थे ? जेल में कैसे दिन कटे ?

मैं—मित्र एनी ! जेल-जीवन दुःखद होता है सही; पर वहाँ अच्छे मित्रों के मिल जाने से मेरे दिन बड़े सुख से कटे।

एनी मुझे देखकर फूली न समाई। वह थोड़ी देर बात-चीत कर झट जूता पहने ही खटाखट ऊपर चली गई। एक तश्तरी में मिठाइयाँ और फल लाकर मेरे सामने रख एक गिलास पानी भी ले आई। मैं उसकी आवभगत देख कर हँसने लगा।

वह बोली—हँसते क्या हो ? सब खाना पड़ेगा।

मैंने कहा—अरे बाबा ! अभी दो मिनट आये भी नहीं हुआ और इतनी खातिरदारी ? इससे तो अजीर्ण होने का भय है।

एनी—मेरे पास दवा है, कोई डर नहीं।

हम दोनों खिलखिलाकर हँस पड़े।

मैं—मित्र कन्हैया कहाँ गया है ?

एनी—आफ़िस गये हैं। दो-तीन घंटे बाद लौटेंगे।

मैं—तुम्हारे घर के सब लोग तो अच्छे हैं ?

एनी—हाँ, सब तुम्हारी कृपा है।

मैं—तुम्हारी डाक्टरी कैसी चल रही है ?

एनी—अच्छी ही चलती है। मेरा उद्देश्य केवल पैसा ऐंठना थोड़े ही है ?

मैं—तुम तो मजूर-संघ में काम करती थीं ?

एनी—हाँ, अब भी करती हूँ। काम सिलसिले से चल रहा है। मेरी डाक्टरी का मजूरों पर अच्छा प्रभाव पड़ता है। उनके स्वार्थ की बातों को अच्छी तरह समझाने से वे झट मान लेते हैं।

बात का सिलसिला तोड़कर बोली—दुनिया-भर की बातें तो होती ही रहेंगी, अभी जलपान तो करो।

मैं मुस्कुराता हुआ कहने लगा—एनी, तुम्हारे सिर पर क्या खिलाने का भूत चढ़ गया है ? अच्छा, आओ, हम-तुम दोनों मिलकर खायँ।

एनी हँसते-हँसते शरीक हो गई। हमलोगों के बात-चीत करते-करते कई घंटे हो गये।

कन्हैयालाल आ पहुँचा। वह मुझे स्थिर दृष्टि से देखने लगा। मैंने पूछा—क्या घूर रहे हो दोस्त ?

उसने जवाब दिया—अरे मुन्नीमाल! तुम कब आये ? जेल से कब छूटे ?

मैं—आज ही यहाँ आया हूँ। एक सप्ताह हुआ, जेल से—

बीच ही में उसने कहा—दूकान कैसी चल रही है ?

मैं—अच्छी ही चल रही है। उसीके लिये सामान खरीदने आया हूँ।

कन्हैयालाल कोट-पतलून उतारकर फिर बहुत-सी इधर-उधर की बातें करने लगा।

मैंने कहा—अच्छा, जाओ—जलपान कर आओ, घूमने जाना है।

वह ऊपर चला गया। एनी मेरे पास ही बैठी रही। उसके प्रति पहले की तरह मेरे बुरे भाव न थे।

सात बजे के क़रीब हमलोग घूमने के लिये निकले। कुसुम से भेंट करने की मेरी इच्छा थी।

हम कन्हैया की मोटर पर सवार थे। मैंने ड्राइवर को हुक्म दिया—श्यामबाजार की ओर ले चलो।

कन्हैया ने पूछा—वहाँ क्या करना है?

मैंने कहा—एक बेचारी विधवा से मिलना है।

पचीसवाँ परिच्छेद

मकान स्वच्छ और हवादार था। खुली जगह में बसा हुआ था। दरवाज़ा खुला था। मैं मोटर से उतरकर सौ क़दम पैदल गया। फिर एकदम भीतर चला गया। आवाज़ दी—कुसुम! कुसुम!

कुसुम झट घर के भीतरवाले बरामदे में आकर बोली—कौन है?

मैंने कहा—जरा इधर देखो तो सही......

कुसुम मुझे देखकर मुस्कुराई। फिर बोली—अरे आप हैं! आइये, ऊपर चले आइये।

मैंने पूछा—आजकल तो पहले से बहुत स्वस्थ मालूम पड़ रही हो?

उसने मेरी आँखों की ओर स्थिर दृष्टि से देखते हुए कहा—सच?

मैं—आजकल क्या कर रही हो?

कुसुम—मैंने वह पेशा छोड़ दिया है। शिवनाथ आजकल पचीस रुपये माहवार पर पास ही के प्रेस में कम्पोज़ीटर है। बैंक में कुछ रुपये भी जमा हैं। बस...

मैंने बीच ही में उत्सुकता से पूछा—बैंक में कितने रुपये होंगे ?

कुसुम—इंपीरियल बैंक में चार हज़ार रुपये हैं। जो सूद मिलता है, वह भी फिर जमा कर देती हूँ।

मैं कुछ अन्यमनस्क होकर सोचने लगा—मनुष्य में कितना जल्दी-जल्दी परिवर्तन होता रहता है। पैसा ही उस परिवर्त्तन का मूल कारण है !

कुसुम के चेहरे में स्वाभाविक कान्ति थी। पहले से अब वह गंभीर स्वभाव की हो गई थी।

मैंने कहा—मेरे साथ और लोग भी हैं। वे बाहर मेरी बाट जोह रहे हैं। तुम हम सबके साथ घूमने चलो न ?

वह गंभीरता-पूर्वक कहने लगी—क्या उन्हें जल्दी है ? मैं अपरिचित स्त्री, उनके साथ कैसे घूमने जा सकती हूँ ?

मैं—वे भी तुम्हारे परिचित हैं। चोरबागान में जिस मकान में तुम रहती थीं, उसीके सामनेवाले मकान के वे रहनेवाले हैं।

वह उदास होकर बोली—मुन्नीबाबू, आपको देर होती होगी, आप जा सकते हैं। फिर कृपा कर मिलियेगा। ..

मैंने कहा—चलो न तुम भी। वे शरीफ़ आदमी हैं। मेरे मित्र की स्त्री 'एनी' भी साथ ही है।

उसने साफ़ कह दिया—मुझे उनसे भेंट करते लज्जा आती है।

मैंने फिर ज़्यादा ज़िद नहीं की।

मैं ज्योंही नीचे उतरने लगा, त्योंही वह आवेश के साथ बोली—मुन्नी बाबू, मेरी एक बात मानियेगा?

मैंने कहा—कहो, क्या है?

वह मेरा हाथ पकड़कर करुण कंठ से बोली—यदि वे आपसे कुछ पूछें, तो मेरा परिचय न दीजियेगा।

मैंने कहा—वे बड़े उदार विचार के आदमी हैं। तुम उनके साथ घूमने भी तो चलो, मन में वे कुछ कुभाव नहीं लावेंगे।

इतना कह चुकने के बाद फिर न जाने उसके मन में क्या विचार उठा कि वह मेरे साथ मोटर तक चली आई।

कन्हैयालाल ने उसे पहचान लिया। पूछा—आजकल यहीं हो? पहले से तुममें बहुत परिवर्तन मालूम पड़ रहा है।

कुसुम ने सिर नीचा कर कुछ जवाब नहीं दिया।

कन्हैया ने फिर कहा—तुम कुछ नाराज़ तो न हो गईं ?

कुसुम ने कहा—नाराज़ होने की बात ही आपने क्या कही है कि मैं रुष्ट होऊँगी। मैं अपने पूर्व-कृत्यों को एक बार, पुस्तक के पृष्ठों की भाँति, उलट-पलटकर देख रही थी और उसीपर विचार कर रही थी।

एनी चकित होकर उसकी ओर देखने लगी।

कुसुम का चेहरा उदास पड़ गया। वह शून्य हृदय से सबको देखने लगी।

एनी आगे बढ़ उसका हाथ पकड़कर बोली—बहिन ! तुम इतना उदास क्यों हो गईं ? घूमने क्यों नहीं निकलती थीं ?

मैं सोचती थी, कलकत्ते का अदना-से-अदना आदमी मुझे अच्छी तरह पहचानता है, मेरे कर्मों को सुन चुका है।

एनी स्थिर दृष्टि से उसे देखने लगी। कुसुम फिर बोली—मैंने अपने ही कर्मों से अपने स्वामी की हत्या की है।

मैं और कन्हैयालाल कुसुम के विषय में बहुत कुछ जानते थे।

एनी भौचक होकर कहने लगी—तुमने अपने स्वामी की हत्या की है ? सो कैसे ?

हम निस्पन्द खड़े हो एकटक कुसुम को देखते रहे।

कुसुम ने कहा—चलिये, मैं भी आज आप लोगों के साथ घूम आऊँ—

हमलोग मोटर पर बैठ गये। कन्हैया ड्राइवर के पास बैठ गया। मैं, एनी और कुसुम पीछे की सीट पर बैठ गये। मैं एक किनारे था।

कुसुम ने कहा—ओह! आज बरसों के बाद शहर घूमने के लिये निकली हूँ। इस दुनिया में चोर, डाकू, लुटेरे, लंपट और बेईमानों का ही बोलबाला है। जो ईमानदार है, वह बेवक़ूफ़ है—वह इस संसार में सुखी रह ही नहीं सकता। मेरे स्वामी भी बड़े निरीह जीव थे। दुःख, कष्ट और दैन्य की वह प्रतिमूर्त्ति थे। ······बस···

एनी बीच ही में उसके सिर के बालों को सहलाती हुई बोली—बहिन! जो बीत चुका है, उसे भूल जाओ; उसके लिये पश्चात्ताप कर अपने हृदय को व्यथित न करो—मैं सब सुन चूकी हूँ।

कुसुम ने कहा—बहिन, तुम नहीं जानतीं कि इस पश्चात्ताप में क्या आनन्द मिलता है। मैंने इसे हृदय के एक कोने में दबा रक्खा था, आज यह आप-से-आप फूट पड़ा। हृदय का द्वार खुल गया, मन हल्का हो गया।

थोड़ी देर ठहरकर फिर उसने कहा—मनुष्य का जीवन काँटों का जंगल है, जिसमें बैठो तो काँटे चुभते हैं, लेटो तो काँटे चुभते हैं, खड़े होकर चलो तो काँटे चुभते हैं—कहीं निष्कृति नहीं है—हाँ, पैसे पास हों तो—

इतना कहते-कहते कुसुम का गला भर गया। घंटा भर घूमने के बाद कुसुम को हमलोगों ने उतार दिया। जाते वक्त एनी ने कहा—बीच-बीच में हमारे यहाँ आते रहना—मैं फिर तो मिलूँगी ही; पर हो सके, तो तुम कल आ जाओ न!

कुसुम ने आना स्वीकार किया।

छब्बीसवाँ परिच्छेद

मैं, एनी और कन्हैयालाल नीचे दवाखाने में बैठे हुए थे। आपस में कुछ बातचीत कर रहे थे।

एक बंगाली बाबू आकर कहने लगे—बाबूजी—आपके यहाँ मेरे योग्य कोई नौकरी नहीं है—मैं आई-एस-सी पास हूँ—कम-से-कम कंपाउंडरी हो तो......

कन्हैया ने नम्रता-पूर्वक कहा—बाबूजी, यहाँ नौकर की आवश्यकता नहीं है—कहीं दूसरी जगह चेष्टा कीजिये।

वह बेचारा चला गया। भारत के राजनीतिक, सामाजिक और साहित्यिक पथ-प्रदर्शक बंगालियों की दुरवस्था देखकर मैं चिंतित हुआ—उदास होकर सोचने लगा—कन्हैया से पूछा—आखिर बंगालियों की इतनी हीन अवस्था क्यों है भाई ?

कन्हैया—बंगाल के पढ़े-लिखे और मध्यवित्त—सम्प्रदाय के लोग 'भद्र लोक' कहलाते हैं। वे विलासी और शौक़ीन होते हैं। इसीलिये एक बार आचार्य प्रफुल्लचंद्र राय ने दुःखित होकर एक लेख लिखा था, जिसमें उन्होंने साफ़-साफ़ यह व्यक्त कर दिया था कि समाज के 'भद्र लोक'—

चाकरी-प्रिय, डिग्री-प्रिय बङ्गाली बाबू लोग—आज अपने देश के आर्थिक संस्थानों को अपने हाथों से चीनी, खत्री, मारवाड़ी और विदेशी लोगों को दे रहे हैं और स्वयं निष्प्राण शिक्षा के मोह में फँसकर दर-दर मारे-मारे फिरते हैं और उन्हींकी गुलामी करते फिरते हैं।

मैं—इसीलिये भारत के अन्य प्रान्तों के निवासी सोचते हैं कि बंगाली अब कहीं के न रहे—

कन्हैया—पर ठंढे दिल से विचार करने पर और बंगाल की आधुनिक अवस्था का अध्ययन करने से उन्हें मालूम हो जायगा कि तरुण-बंगाल के युवक अपने बाप-दादों के कर्मों का प्रायश्चित्त करने के लिए जी-जान से चेष्टा कर रहे हैं; पर खोई हुई संपत्ति शीघ्र हाथ आती कहाँ है!

मैं—मैंने यहाँ के युवकों के सम्बन्ध में कई बातें सुन रक्खी हैं।

कन्हैया ने आवेश में आकर पूछा—सो क्या?

मैंने जवाब दिया—यही कि यहाँ के युवक तीन प्रकार के होते हैं—आज़ादी के दीवाने, स्वार्थान्ध, देशसेवक और लकीरपंथी।

कन्हैया ने बीच में बात काटकर कहा—हाँ! तुम्हारा कहना ठीक हो सकता है। पहली श्रेणी के युवकों का ख़याल है कि उन्हींकी बदौलत आज दुःख-दैन्य से लदे हुए बंगाल का सिर संसार में ऊँचा है।

मैंने कहा—हाँ, मेरा भी यही ख़याल है।

कन्हैया ने फिर कहना शुरू किया—बंगाल के भद्र लोक कारपोरेशन-जैसी सार्वजनिक संस्था में नौकरी के लिये दलबन्दी करते हैं, आपस में हो-हल्ला मचाते हैं...

मैं बीच ही में बोल उठा—यही कारण है कि अन्य प्रांतों के लोग बंगालियों को झगड़ालू कहते हैं।

उसने कहा—अरे भाई! यह अवस्था तो भारत के प्रत्येक नगर और ज़िले में देख पड़ती है; पर असल बात तो यह है कि अन्य प्रांतों के लोगों में परस्पर-विरोध करने का साहस नहीं है—प्रचार करने के साधन नहीं हैं—पत्रादि बहुत कम हैं।

मैंने जवाब दिया—हाँ, बात तो यही है! कहाँ डिस्ट्रिक्ट बोर्ड और म्युनिसिपैलिटी में अन्धेर-खाता नहीं होता?

कन्हैया—यहाँ भद्र-समाज के कई प्रमुख लीडर हैं। उनमें से कई तो चिरकुमारव्रत का उद्यापन करते हैं!

मैंने इस बार कलकत्ते में रहकर नव-नव भावों के जन्म-स्थान और युगान्तर के प्रवर्त्तक बंगाल के लोगों का अध्ययन किया। देखा, हमारे यू० पी० के किसानों की तरह वहाँ के कृषक-समाज की भी बड़ी बुरी अवस्था है। पाट का दर गिर जाने से वे बेचारे तड़प रहे हैं—दाने चबाकर दिन काटते हैं। शाम को भात की हँड़िया चढ़ती है, तब कहीं उनके जान-में-जान आती है। इसीमें उन्हें स्वर्गीय (?) सुख मिलता है ! यही उनके अपरिवर्तनीय जीवन का लेखा है।

मैं अपनी दूकान का माल-असबाब लेकर जब चलने लगा, तब एनी ने कहा—मैं तुम्हारे साथ चलूँ ? कमला को कभी देखा नहीं है। आँखों से एक बार तुम्हारी स्त्री को देख लूँगी—बच्चा होनेवाला है—मैं किसी-न-किसी काम में तुम्हारी सहायता तो कर सकूँगी।

मैंने नम्रतापूर्वक उसे समझाया—अजी, तुम जो कुछ कह रही हो, सोलहो आने सत्य है। मैं इस बार जब कलकत्ता आऊँगा, कमला को अपने साथ लेता आऊँगा।

बीच ही में बात काटकर उसने कहा—केवल कमला को और साथ में उसके बच्चे को भी।

हम दोनों खिलखिलाकर हँस पड़े। मैंने कहा—तुम्हारे मुँह में घी-शक्कर पड़े। जैसा कहती हो, भगवान वैसा ही करें।

एनी ने कहा—शीघ्र ही आना, हमलोगों को भूल न जाना। कमला से हमलोगों की सदिच्छा और नमस्कार कह देना।

रास्ते-भर एनी की बातें ही मेरे सिर में चक्कर काटती रहीं। मन-ही-मन विचार करता था—स्त्रियाँ वस्तुतः, स्वभावतः, बड़ी ही स्नेहमयी होती हैं। उनका कैसा पारस्परिक सहज प्रेम होता है!

सत्ताइसवाँ परिच्छेद

जिस मकान में हम रहते थे, उसमें भाड़े पर हमने केवल दो कोठरियाँ ले रक्खी थीं। एक में रसोई होती थी और बुढ़िया रहती थी। दूसरे में हम स्त्री-पुरुष रहते थे। स्थान की संकीर्णता थी।

कलकत्ते से मेरे चले आने के बाद मेरी माँ दिन-प्रति-दिन कमला के प्रति आकृष्ट होती गई।

एक दिन बातों ही बात में माँ ने कहा—बहू ! यहाँ जगह की कमी है। हमारे मकान पर चलो। वह भी तुम्हारा घर है। इसे छोड़ दो। कोई कुछ न कहेगा। वह हमारा निजी मकान है। मुन्नी के पिता भी बड़ा अफसोस कर रहे थे—

कमला – माँ ! मैं कैसे आपके पुत्र की आज्ञा के बिना ऐसा कर सकती हूँ ? उनकी इच्छा पर मेरी इच्छा निर्भर है। वे आ जायँ तो उनसे कहियेगा। वे बड़े सीधे हैं, मेरी धारणा है कि आपकी बात वे मान जायँगे।

माँ मन-ही-मन बड़ी खुश हुई। वह कमला के मुख-मंडल को अपने वक्षस्थल में लेकर चूमने लगी।

मेरी माँ रोज़ पिताजी से कमला की चर्चा किया करती थी। वह उसके स्वभाव पर फूली न समाती थी। अपने इष्ट-मित्रों से कहा करती थी—हमारी बिरादरी में कमला जैसी बहू किसीकी नहीं है।

मैं जब कलकत्ते से लौट आया, तो देखा कि कमला के पास मेरी माँ और बहुत-सी हमारी परिचिता स्त्रियाँ घेरकर बैठी हुई हैं। वह लज्जावश उस समय मेरे पास न आ सकी।

दोपहर का समय था। सितम्बर का महीना था। काशी में काफ़ी गर्मी पड़ती है। मैं पसीने से सराबोर था। मेरी माँ एक पंखा हाथ में लेकर मेरे पास आकर खड़ी हो गई। सब सामान रखवा लिया। फिर पंखा झलने लगी। थोड़ी देर में मैं जब प्रकृतिस्थ हुआ, तब माँ ने—कमला से मेरी अनुपस्थिति में जो कुछ बातचीत हुई थी—संक्षेप में वह सब कह डाला। फिर अनुरोध करती हुई कहने लगी—बेटा! अपने घर चलो, यहाँ स्थान बहुत कम है। कमला को उठने-बैठने में बड़ा कष्ट होता है। अपने घर चलोगे तो लज्जा की कोई बात नहीं है—तुम्हारे पिताजी बड़े दुखी रहते हैं। अपने हृदय की अवस्था तुमसे क्या कहूँ बेटा!

इतना कह चुकने पर माता का गला रुँध गया। फिर अपने को सम्हालकर बोली—तुम्हारे पिता ने कहा है कि मुन्नी के लिये यदि मुझे बिरादरी से बहिष्कृत भी होना पड़े, तो अब मुझे क़बूल है। तुमने दूकान कर ली है। ईश्वर की कृपा से उससे घर-गृहस्थी का खर्चा चला जा रहा है......

मैंने निष्कंप स्वर से जवाब दिया—माँ! तुमलोगों को हमारे लिये जातिच्युत होने की क्या आवश्यकता है? हम जैसे हैं, वैसे ही हमें रहने दो।

माँ मेरी बातों को सुनकर फूट-फूट रोने लगी। कमला दूर ही से सब सुन रही थी। अन्य स्त्रियाँ मेरी माँ के पास आकर खड़ी हो गईं। माँ ने उन्हें रोते-रोते सब कह सुनाया।

स्त्रियों ने एक स्वर से कहा—यह है बेटे का अरमान!

माँ को उन स्त्रियों की यह बात उस अवस्था में भी बड़ी ही सुखद प्रतीत हुई। एक ही क्षण में उसकी आँखों के आँसू सूख गये। फिर अनुरोध के स्वर में बोली—बेटा! तुम्हें चलना ही पड़ेगा।

स्त्रियों ने माँ को समझाया—अरे काहे को इतना

घबराती हो ? बेटा न चले तो क्या ? बहू को तो हमलोग ले ही जायँगी ।

कमला और मैं, दोनों लजा गये। उसने मेरी ओर मुस्कुराते हुए एक बार आँख तरेरकर देखा । मैंने जवाब नहीं दिया । मैं हाथ-पाँव-मुँह धोकर जब बैठा, तब मेरी माँ ने जलपान करने के लिये दिया ।

अठाइसवाँ परिच्छेद

मेरी छोटी बहिन की शादी हो गई थी। उसके विवाह में काफ़ी खर्च पड़ गया था। पिताजी ऋणग्रस्त हो गये थे। उनके पास कोई विशेष पूँजी तो थी नहीं। माताजी के ज़ेवर भी दो हज़ार पर बिक चुके थे।

मैं उनका सबसे बड़ा लड़का था। वह वृद्ध हो गये थे, अतः अस्वस्थ रहते थे। यजमानों के यहाँ जाने-आने में उन्हें कष्ट होता था। मुझे खान्दानी वृत्ति पसंद नहीं थी।

शुभ घड़ी थी कि अशुभ, मैं नहीं जानता, दिसम्बर महीने में कमला के गर्भ से एक पुत्र हुआ। मेरी माँ और अन्य स्त्रियों को बड़ी खुशी हुई। बिरादरी का भोज और प्रचलित कुलाचार सम्पन्न हुआ।

मुझे आनन्द मिला, पर बहुत थोड़ा। मैं समझ गया कि अब मैं समाज के मकड़ी-जाल में फँसता जा रहा हूँ।

हम अपने मकान में चले आये थे। कमला की बुढ़िया सास भी हम लोगों के साथ थी। जाति-बिरादरी के बहुत-से उदार नवयुवक मेरे विचारों का समर्थन करते थे—मौके-बे

मौके मेरी सहायता भी करते थे। मेरे मुँह पर मुझे कोई कुछ कहता न था, पर दकियानूसी विचार के व्यक्ति पीठ-पीछे तो मुझे सब कुछ कह डालते थे—मुझे उनकी परवा न थी। मैं परिश्रम करता और खाता-पीता मौज करता था।

उनतीसवाँ परिच्छेद

मैं एक बात कहना भूल गया हूँ। कलकत्ते के मजूरों में एनी का कार्य-कलाप देखकर मेरे विचारों में बहुत परिवर्तन हुआ। मेरे जीवन में दो स्त्रियों के चरित्र को देखकर संसार को पहचानने में बड़ी सहायता मिली—पहली कमला, दूसरी एनी।

सन् १९२९—३० का जनवरी का महीना था। मैं खा-पीकर आराम कर रहा था। पास ही में मेरी डायरी पड़ी हुई थी। मन कुछ उन्मना हो रहा शा। नाना प्रकार के विचार मन में आ रहे थे और फिर बरसाती पानी की तरह बहे जा रहे थे। यकायक मेरा मन 'स्वतन्त्र मनुष्य' की कल्पना करने के लिये दौड़ पड़ा। मस्तिष्क भी एकाग्र होकर उसे सहायता पहुँचाने लगा।

कुछ देर के बाद मेरे हृदय-पटल पर 'स्वतन्त्र मनुष्य' की भावना अंकित हो गई। मैंने फिर उसे अपनी डायरी में इन शब्दों में लिख लिया—

"आज यह समझने और समझाने का दिन आया है कि हम जो स्वाधीनता चाहते हैं, वह केवल विदेशियों की

पराधीनता से राजनीतिक मुक्ति ही नहीं, वरन् हम चाहते हैं सर्व प्रकार के व्यक्तिगत बन्धनों को भी छिन्न-भिन्न करना। मुक्त वही है जो अपने स्वरूप की उपलब्धि कर चुका है, जिसके आत्म-विकास के पथ में कोई बाधा नहीं है। यदि जाति, राष्ट्र वा समाज का प्रत्येक व्यक्ति स्वाधीन नहीं है तो स्वाधीन जाति, स्वाधीन राष्ट्र और स्वाधीन समाज मिथ्या प्रमाणित होंगे। देश-भर में आज जब स्वतन्त्रता की झंकार होने लगी है, तब उसके रूप को खूब अच्छी तरह से समझना और समझा देना चाहिये। बच्चे-बच्चे जान जायँ कि हमारे अधिकार भविष्य में क्या होंगे।"

"अधिकांश योरपीय देश—रूस को छोड़कर—अर्थ-पिशाच और रक्त-शोषक दानवों की लीलाभूमि में परिणत हो गये हैं। समाज, धर्म और सम्प्रदाय के उपासक हम भारतवासी भीरु, हीन, दीन, छली और कपटी हो गये हैं। मनुष्य को तुच्छ समझने से और स्वाधीनता के स्वरूप को उलटा-सीधा करके समझने-समझाने से यही परिणाम होता है।"

"आज मनुष्य से मनुष्य के सब सम्बन्ध दूर हो गये हैं—केवल रह गये हैं—प्रभु और दास, प्रवंचक और प्रवं-

चित। इसीसे आज गगन-भेदी आर्त्तनाद और संसार-व्यापी विद्रोह का सूत्रपात हुआ है—इसीसे संसार के कोने-कोने से क्रांति की ललकार सुनाई पड़ती है।"

"भगवान् ने मनुष्य-रूप में जिसकी सृष्टि की है, उसे किसी मनुष्य की-सी क्षमता प्राप्त नहीं है कि वह भी किसी-को सदा अपना दास बना रक्खे। अन्तर्देवता जिस दिन उसके अज्ञान के बन्धन को छिन्न-भिन्न कर देगा, उस दिन मनुष्य उसे बाहर के बन्धनों में जकड़कर नहीं रख सकेगा।"

"मनुष्य एक-न-एक दिन समाज, सम्प्रदाय, धर्मान्धता, देश, राष्ट्र और संघ के सङ्कीर्ण आवरण को भेदकर अपने-को पहचानेगा—अपनेमें भगवान् के स्वरूप की उपलब्धि करेगा। वही दिन सचमुच उसकी मुक्ति का दिन होगा। उस समय वह अच्छी तरह से समझेगा कि समाज, राष्ट्र, धर्म और संघ मनुष्य ही के सुख-स्वाच्छन्द्य और अभ्युदय के लिये बने हुए हैं—उसके अनिष्ट के लिये नहीं। इस महान् सिद्धांत और उद्देश्य को जिस देश के व्यक्ति अनुभव कर सके हैं, उस देश और समाज की सार्थकता वस्तुतः सराहनीय है। मनुष्य स्वयं अपने समाज, धन, धर्म और देश से बड़ा है। मनुष्य को

छोटा कर, लूला बनाकर, समाज और राष्ट्र की न कभी उन्नति हुई है और न कभी होगी। व्यष्टि को छोड़कर समष्टि का स्वतन्त्र अस्तित्व कहीं भी नहीं है। व्यष्टि जहाँ अज्ञान में पड़ा है; समष्टि वहाँ जड़, शिथिल और मृतप्राय-सा है। यदि आप समाज को वस्तुतः उन्नत करना चाहते हैं, तो मनुष्य को मनुष्योचित अधिकार से वञ्चित न कीजिये। दूसरे की गर्दन नापे बिना यदि आप अपनी शक्ति का अनुभव न कर सकते हों, तो यह समझ लीजिये कि आपके पतन में अब अधिक विलम्ब नहीं है। याद रहे, व्यष्टि ही में आत्म-विकास का बीज, प्रेम का बीज और समाज-संगठन का बीज निहित है। व्यष्टि जहाँ स्वतः विकसित होने का पथ पाता है, वहाँ समष्टि या समाज सर्वाङ्ग-सुन्दर और शक्तिशाली होता है। वही समाज और राष्ट्र सचमुच उन्नत है, जहाँ प्रत्येक व्यक्ति अपनी महिमा से महान् है। जहाँ मनुष्य-मात्र की व्यक्तिगत स्वाधीनता नहीं है, वहाँ राष्ट्रीय स्वाधीनता केवल धूर्त्तों के छल और पागलों के प्रलाप का नामांतर है। जहाँ हर-एक व्यक्ति अपने पूरे-पूरे अधिकार को नहीं समझता और भोगता, वहाँ संघ बिके हुए दासों का जमावड़ा है।"

"आज इसीलिये, हम उन्मुक्त हृदय से कहना चाहते हैं कि हम दास भी नहीं होना चाहते और प्रभु भी नहीं बनना चाहते। किसीको हम बाँधना नहीं चाहते, और अपने-आपको भी किसीके चरणों में बँधवाना नहीं चाहते। हम चाहते हैं अपनी अन्तर्प्रेरणा के अनुकूल पथ पर स्वतः विकसित होना। संसार को हम भयभीत नहीं करना चाहते और स्वयं हम भी त्रस्त होकर नहीं रहना चाहते। हम चाहते हैं निर्भय होना, निर्वैर होना और चिर-शांति पाना।"

"माँ-बाप का दासत्व, आत्मीयों और स्वजनों का दासत्व, समाज का दासत्व, राष्ट्र का दासत्व, नेता का दासत्व, धर्मान्धता का दासत्व, और पोथियों का दासत्व—सर्व प्रकार के दासत्व हमारे निकट हास्यास्पद हो उठें—यही हमारे हृदय की आकांक्षा है।"

तीसवाँ परिच्छेद

मेरा लड़का चार महीने का हो गया था। उसके गाल पर एक बड़ा ही कष्टदायक फोड़ा निकल आया था। वह दिन-रात कराहता रहता था। कमला उसके पीछे चौबीसो घंटे परेशान रहती थी।

इधर माता-पिता को बुख़ार आता था। वे कमज़ोर हो गये थे। बुढ़िया मर गई थी

पड़ोस के रामू, श्यामू आदि की माँ-बहनें आती थीं, थोड़ी देर तक बैठती थीं, सहानुभूति-सूचक मुँह बनाकर जीभ को ऐंठते हुए कहती थीं—बड़ा कष्ट है! वहू बेचारी का खाना-पीना लड़के के पीछे हराम हो गया है, चेहरा बिलकुल उतर गया है। मुन्नी को भी एक घड़ी के लिए कल नहीं है। बड़ा कष्ट है!

हमारी दूकान के साझेदार मेरे एक मित्र थे। उन्हें अपने ससुर की बदौलत रेलवे कम्पनी में अच्छी नौकरी मिल गई थी। उन्हें आराम से साठ रुपये माहवार बँधे मिलते थे, पार्सल बाबू होने के कारण ऊपर से भी काफ़ी आमदनी हो जाती थी। ऐसी मौज की नौकरी मिलने पर कौन पढ़ा-लिखा आदमी दूकान में बैठे-बैठे टापना पसन्द करेगा?

मुझे नित्य दूकान खोलनी पड़ती थी। सुबह-शाम बैठना भी पड़ता था। वही जीविका का एकमात्र अवलम्ब था। महीने में केवल साठ-सत्तर रुपये का लाभ होता था। उसीसे सात आदमियों का पूरा खर्च चलाना पड़ता था।

मेरे दो छोटे भाई और दो बहिनें थीं। छोटी अवि-वाहिता थी। दोनों के पढ़ने-लिखने का खर्च मेरे ऐसे साधारण आदमी को बहुत अखरता था। पर किया क्या जाय ?

किसी तरह से दिन कटते थे। अकेला होता तो होटल में खाता-पीता, निश्चिन्त होकर मौज करता।

दूकान से सबेरे दस बजे लौटता था। कुर्ता उतारकर चूल्हे में आग जलाता था। चूल्हा फूँकते समय कितना कष्ट होता था, कितना नागवार गुज़रता था—यह वही समझ सकता है, जिसपर कभी बीता है !

मेरे ही माथे घर-भर की सेवा-सुश्रूषा का भार था। निःस्वार्थ और निश्चित सेवा बहुत ही पवित्र व्रत है। उस-में हृदय को अभूतपूर्व आनन्द मिलता है। पर मेरी सेवा तो सिर की बला हो गई थी। बिना किये कोई चारा न था। मैं मजबूर था।

एकतीसवाँ परिच्छेद

एक दिन मैं दूकान पर उदास बैठा हुआ था। कुछ अविवाहित नौजवानों को मैंने हँसते-खेलते जाते देखा। वे मेरे परिचित थे। मुझे भी अपने उन सुनहले दिनों की स्मृति हो आई। वे दिन किलकते-कूदते आनन्द से कट जाते थे। फिर कमला मेरे जीवन-पथ पर यौवन का मादक प्याला लिये हुए आकर खड़ी हो गई। मैंने वह प्याला पीना आरंभ किया। जितना पीता गया, नशा उतना ही प्रबल होता गया। उच्च आशाएँ और आकांक्षाएँ, समुद्र-तट की बालू के कणों की तरह, न जाने कब मेरे हृदय से बहकर निकल गईं—मुझे कुछ पता न लगा। उफ़! क्या भारत में जीवन धारण करना—विवाह करना—ही सारे फ़सादों की जड़ है?

यौवन के प्रथम चरण में संसार कितना सुखमय प्रतीत होता था! दुनिया के नर-नारी, पशु-पक्षी, वन-पर्वत, नदी-निर्झर कितने प्रिय—कितने सुहावने—मालूम पड़ते थे! और अब? अब वह कमल-दल पर स्थित सुन्दर जल-बिंदु-सा प्रतीत होता है! वह पवित्र एवं उज्ज्वल प्रेम सीमित हो गया है—क्षुद्र परिवार में—विकृत रूप में!

मनुष्य तरल तारुण्य के उद्दाम वेग से अभिभूत होकर सद्भावनाओं की हत्या करता है। जब हृदय की सुन्दर प्रवृत्तियाँ पुष्पों की नाईं झुलस जाती हैं, तब फिर वह पूर्व-स्मृति का स्मरण कर हृदय को समझाता-बुझाता है। कभी पश्चात्ताप करता है, कभी अट्टहास।

बन्धन-विहीन होकर मनुष्य यदि अपना अल्पकाल-स्थायी जीवन काट सकता, संसार के मनुष्य-मात्र को अपना जीवन-बंधु समझ पाता, तो वह आनंद की निधि बन जाता। आह! मनुष्य ही ने तो अपनी मुक्ति के पथ में रोड़े बिछा रक्खे हैं—जीवन-पथ को कंटकाकीर्ण कर छोड़ा है।

मेरे शरीर में मृदु कंपन होने लगा। हृदय का स्पन्दन सघन होने लगा। मैं सोचने लगा—यह कौन-सी बला आई? अरे यह तो बुख़ार है! मैं भी खाट पर पड़ा!

धीरे-धीरे मेरा मन, प्राण और शरीर—तीनों अवसन्न होने लगे। मैंने दूकान बढ़ाई। घर पर आकर चुपचाप सो रहा।

मेरे कमरे में आकर कमला मेरे बिछौने पर बैठ गई। मेरे माथे पर उसने हाथ रक्खा। मुझे ठंढा मालूम हुआ। मैंने काँपते हुए स्वर में कहा—कमला! तुम्हारा हाथ बड़ा ठंढा मालूम हो रहा है। मुझे ऐसा—

कुछ देर तक चुप रहकर फिर कहने लगा—मालूम होता है, इस संसार में अब मैं थोड़े दिन का मेहमान हूँ !

कमला चीख मारकर रो पड़ी। फिर मेरे मधुर आश्वासन से प्रकृतिस्थ होकर कहने लगी—छिः ! ऐसी बात भी मुँह से निकाली जाती है ? तुम प्रलाप तो नहीं कर रहे हो ?

मैंने शांत भाव से उसकी ओर देखा। मैंने दूकान में उसीकी पूँजी लगाई थी। दूकान उसीके नाम थी। मैंने उसे समझाया—देखो कमला, दूकान तुम्हारे ही नाम है। सीधाई से अपनेको खो न बैठना।

कमला ने मेरे मुँह के पास आकर कहा—डाक्टर बुलाऊँ ?

मेरे उत्तर की प्रतीक्षा न करके वह बाहर चली गई।

रात के दस बज गये थे। चारों ओर निस्तब्धता का राज्य फैला हुआ था। कमला घबराई हुई थी। उसने माँ के पास जाकर, सिसकते हुए, सब बातें कह डालीं। माँ ने पिताजी से कहा, जल्दी जाओ, डाक्टर बुला लाओ।

शहर का मामला था। डाक्टर के आने में देर न हुई। वह आकर गंभीर भाव से मुझे बहुत देर तक देखता

रहा। फिर उसने नाड़ी दबाई, तो सन्नाटे में आ गया। बोला—घबड़ाने की कोई बात नहीं है, बुख़ार इस समय बहुत तेज़ है; दवा दे जाता हूँ, तीन-तीन घंटे पर पिला दीजियेगा।

डाक्टर ने जेब में चार रुपये डालकर कूच किया। मेरी अन्तरात्मा कहती थी, मैं बच नहीं सकता। मुझे न्यूमोनिया हो गया था।

सात बजे प्रातःकाल डाक्टर फिर आ धमका। पहले तो मेरे दाहिने पार्श्व में बड़ा दर्द था। फिर बायें पार्श्व में दर्द उठा। मर्ज़ बढ़ता गया ज्यों-ज्यों दवा की!

कमला ने व्याकुल होकर एनी को तार दिया। कन्हैयालाल भी उसके साथ मुझे देखने के लिये आया। एनी ने बड़ी सेवा-शुश्रूषा की। पर मेरे भाग्य में कुछ और ही बदा था।

इष्ट-मित्र और पास-पड़ोस के लोग-लुगाई मुझे देखने आते थे। कोई कहता था—इसीका लड़का इसका काल है। कैसे बुरे नक्षत्र में लड़के का जन्म हुआ है!

मुझे उनकी बातें सुनकर दुःख होता था। उनके अंध-विश्वास पर हँसी आती थी।

कमला रो-रोकर अधीर होती जा रही थी। अन्य स्त्रियाँ उसे ढाढ़स बँधाती थीं।

सन् १९३१ ईस्वी का दिसम्बर का महीना। दोपहर का समय। मुझे साँस लेने में बड़ा कष्ट होने लगा—दम घुटने लगा।

कमला गला फाड़-फाड़कर रो रही थी। मेरे लड़के को श्यामू की माँ गोद में लिये हुई थी। वह उसीके मुँह की ओर टुकुर-टुकुर ताक रहा था।

मैं अन्तिम बार तकिये के सहारे बिछौने पर बैठ गया। आँखें मूँदकर आत्म-चिन्तन किया। फिर सबकी ओर एक बार करुण दृष्टि से जी-भर देखा। बोलने की शक्ति नहीं रह गई थी। धीरे-धीरे हाथ उठाकर सबको नमस्कार किया। कमला को भी, इशारे से, धैर्य धारण करने के लिये कहा। फिर अन्तिम घड़ियों की प्रतीक्षा करने लगा; पर वे भी दुःखी, दीन, दरिद्र, दलित और पतित के पास बड़ी मुश्किल से, निहायत धीमी चाल से, आती हैं!

'बलदेव-मित्र-मंडल' की अन्य प्रसिद्ध पुस्तकें

१—मेरी हजामत

इस पुस्तक को पढ़िए और हँसते-हँसते लोट-पोट हो जाइए। श्री अन्नपूर्णानन्दजी की प्रौढ़ लेखनी का आनन्द आपको मिलेगा। वास्तव में यह हास्य-रस की अद्वितीय और अपूर्व पुस्तक है। हास्य के साथ-ही-साथ इसकी एक-एक कहानी समाज-सुधार और राजनीति से ओतप्रोत है। लीडर, प्रताप, भारत, विशाल-भारत और पायनियर जैसे पत्रों ने मुक्तकंठ से पुस्तक की प्रशंसा की है। स्वर्गीय साहित्याचार्य पं० पद्मसिंहजी शर्मा ने इसकी भूमिका बड़ी सरस लिखी है।

सुन्दर छपाई; बढ़िया कागज; मूल्य केवल ॥=)

२—मगन रहु चोला

यह बाबू अन्नपूर्णानन्दजी की दूसरी, हास्य-रस की अद्वितीय, पुस्तक है। दर असल यह पुस्तक रोते हुए को हँसानेवाली है। एक-एक शब्द से हास्य टपकता है। पढ़नेवाला हँसते-हँसते दुहरा हो जाता है। पुस्तक हँसाने की गारंटी देकर लिखी गई है। यदि अन्नपूर्णानन्दजी की हास्य-रसपूर्ण लेखनी का चमत्कार देखना हो, तो इसे अवश्य पढ़िए। आपका भी चोला मगन हो जायगा।

पुस्तक की छपाई-सफाई सुन्दर; मोटा ऐंटिक कागज; दर्शनीय तिरंगा कवर पेज; मूल्य केवल ॥)

३—मीनाबाजार

इस पुस्तक के लेखक पं० हनूमान प्रसाद शर्मा हिन्दी में स्वास्थ्य-साहित्य के प्रसिद्ध और सफल रचयिता हैं। इसमें आप ही की, नवयुग की भावनाओं से पूर्ण, सामाजिक और राजनैतिक, १३ कहानियों का संग्रह है। इसकी प्रत्येक कहानी समाज-सुधार और राजनीति के हृदयग्राही भावों से शराबोर है। ये युगान्तरकारी कहानियाँ अपने ढंग की अनूठी और निराली हैं।

"घटनाएँ स्पष्ट और वर्णन-शैली सीधी-सादी है। सचाई की जीत और बुराई की हार दिखाने में प्रायः स्वाभाविक घटनाओं की सृष्टि की गई है।"

छपाई-सफाई सुन्दर; मोटा ऐंटिक कागज; चित्ताकर्षक एवं दर्शनीय कलापूर्ण तिरंगा कवर; मूल्य १)

४—अश्रु-दल

यह श्रीमंगल प्रसाद विश्वकर्मा जी की अनूठी एवं चुनी हुई सुंदर साहित्यिक कहानियों का संग्रह है। इन कहानियों में आह है, दर्द है एवं दुःखी हृदयों की ज्वाला है। कई कहानियों को पढ़कर आप यही कह उठेंगे कि अपूर्व करुण रस का सम्मिश्रण है। एक बार आप अवश्य इन भावमयी कहानियों को पढ़िए। इसकी भूमिका 'सरस्वती' के भूतपूर्व सम्पादक श्रीपदुमलाल पुनालाल बख्शी बी० ए० ने लिखी है।

सुंदर चित्ताकर्षक छपाई, देखने योग्य कवर, मूल्य ॥।)

५—मेरी आह

इस पुस्तक के लेखक हैं 'प्रेमा' के भूतपूर्व सम्पादक श्रीपरिपूर्णानन्दजी वर्मा। यह एकदम नवयुग का क्रान्तिकारी उपन्यास है। इसमें समाज की कुरीतियों का ज्वलन्त चित्र है। विधवा की आह, सन्यासी का साहस, श्मशान-यात्रा, सन्देह का भूत—समाज के लिए बड़े शिक्षाप्रद और उपयोगी परिच्छेद हैं। ग्राम की जनता का बड़ा ही चित्ता-कर्षक और मनोरंजक वर्णन है। इसको पढ़कर आपके मुँह से 'आह' निकले बिना न रहेगी। प्रत्येक पात्र के चरित्र-चित्रण में लेखक को पूर्ण सफलता मिली है। एक बार आप इस पुस्तक को अवश्य पढ़िए। बढ़िया छपाई, सुन्दर चित्ताकर्षक आवरण-पृष्ठ; मूल्य केवल ।॥)

६—प्रेम-कहानी

इसके लेखक हैं प्रसिद्ध कहानी-लेखक पं० विनोद-शंकरजी व्यास। इस पुस्तक में संसार के सुप्रसिद्ध फ्रेंच उपन्यास-लेखक विक्टर-ह्यूगो और रूसी कथाकार डोस्टा-वेस्की की प्रेम-कहानी का बड़ा ही मनोरंजक और हृदय-ग्राही वर्णन है। उनकी प्रेमिकाओं के पत्रों का वर्णन भी यत्रतत्र किया गया है। हिन्दी-साहित्य में यह एकदम नई पुस्तक है। उक्त दोनों लेखकों के कई सुन्दर चित्र, प्रेमिकाओं के साथ, दिए गए हैं। पुस्तक पढ़ने ही योग्य है। सुन्दर छपाई और सात रंगीन चित्र; मूल्य ॥)